

अध्यात्मवृत्तावलिद्वितीय भाग

सहजानंद शास्त्रमाला
अध्यात्मवृत्तावलि
द्वितीय भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास
गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'अध्यात्मवृत्तावलि द्वितीय भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे

|
इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री शांतिलालजी बड़जात्या, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं। सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन#

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम॥
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

में दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥टेक॥

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०॥१॥

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥२॥

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥३॥

अध्यात्मवृत्तावलि

द्वितीय भाग

लेखक- अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी 'श्रीमत्सहजानन्द' महाराज

1 जनवरी 1965

आत्मा के अपूर्व दर्शन का अपूर्व क्षण प्राप्त कर। देख, प्रत्येक वर्ष के नवीन दिन आते रहे और पुराने पड़ते रहे, कुछ आत्मा में कुछ नवीनता अर्थात् अपूर्वता आई या नहीं, इस ओर दृष्टिपात नहीं किया। आत्मा का अपूर्व क्षण वह है जो सत्य निरपेक्ष आनन्दपूर्ण आत्मतत्त्व के प्रकाश से भरपूर हो। इस क्षण के पाये बिना लोक के किसी वैभव के निकट रह लिया जाए, वह तो वैभव है अर्थात् नियम से असार है। जिन चेतन अचेतन परिग्रहों को अपनाकर मौज माना जा रहा है, वे तो साक्षात् संकट के स्नेही हैं अर्थात् संकट के निमित्त हैं।

आत्मस्वरूप से बाहर जाकर किन्हीं भी बाह्यपदार्थों में उपयुक्त होने से शान्ति त्रिकाल भी नहीं मिल सकती, क्योंकि परिणमना तो खुद को है। यदि पर को उपयोग में लेकर परिणमा जाए तो पर तो अध्रुव है और भिन्न है, उसके आश्रय में उपयोग की स्थिरता ही नहीं रह सकती, भटकना तो यथार्थ यही है। आत्मस्वरूप ध्रुव है, स्वयं है, आनन्दमय है, अतः अन्तस्तत्त्व की दृष्टि से ही स्थिर और आनन्दरूप परिणमन होगा। इसके अनुभव का क्षण ही वास्तव में अपूर्व क्षण है। आत्मा के अपूर्व दर्शन का अपूर्व क्षण प्राप्त कर।

2 जनवरी 1965

पूर्ण ज्ञान होने के लिए अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करो। ज्ञानियों की संगति से ज्ञान मिलता है व अज्ञानियों की संगति से अज्ञान मिलता है। ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व के उपयोग से ज्ञानविकास होता है व अज्ञानरूप परिणमन के स्वीकार से, आत्मसात्करण से अज्ञानविकार होता है। मैं मनुष्य हूँ, मैं धनी हूँ, मैं उपकारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं साधु हूँ, मैं अमुक कुल का हूँ, मैं अमुक सम्प्रदाय का हूँ, मैं

इतनी पोजीशन का हूँ इत्यादि रूप से अपनी प्रतीति रहना- यह सब अज्ञान का रूपक है। इस रूप अपने को मानने से अज्ञान ही मिलता है। पूर्ण ज्ञानी होने के लिये अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करो।

आत्मन् ! अपना ज्ञानस्वरूप संभालो, विडम्बनाएँ सब स्वयं खत्म हो जावेंगी। अहो ! इस जीव ने अब तक अज्ञानरूपों को स्वीकार करते रहने का काम किया है। इस विपरीत कार्य के फल में विडम्बनाएँ और विपत्तियाँ सही हैं। विपत्तियाँ मिलती हों, इसमें कुछ बुराई नहीं थी, आती रहें विपत्तियाँ, यह आत्मा धीर रहे तो क्या हानि है? परन्तु यह क्या कि ज्ञानानन्दस्वरूप यह आत्मा पेड़, जमीन, पानी, हवा, आग, कीड़े, पशु-पक्षी आदिविभिन्नरूप विडम्बनाओं को धारण करे। हे आत्मन् ! अपना ज्ञानस्वरूप संभालो, विडम्बनाएँ स्वयं सब खत्म हो जावेंगी।

3 जनवरी 1965

आत्महित का यत्न करो। देखो, आत्मा सत् है, उसका तो कभी विनाश नहीं होगा और रहेगा किसी न किसी स्थिति में तथा वर्तमान में जो स्थिति है उसे छोड़ेगा भी अवश्य, तब कर्तव्य यह है कि वर्तमान कल्पित किसी प्रतिकूल परिस्थिति का न विषाद मानें, किन्तु अपने आत्मा का उपयोग शुद्ध रहे, इसके यत्न को प्रमुखता दें। आत्महित का यत्न करो।

निज ज्ञानलक्ष्मी की संभाल करो। लक्ष्मी वास्तविक यही है। बाह्यलक्ष्मी तो पुण्यवान के साथ लगी फिरती है, जिसके निकट जितनी आनी है, आती है। मनुष्य का कर्तव्य है कि प्राप्त परिस्थिति में अपना गुजारा करे, संतोष करे और रत्नत्रय की साधना से अपूर्व मानवजन्म को सफल करे। वास्तव में तो लक्ष्मी नाम चैतन्यस्वरूप का है, जो अपना लक्षण है वही अपनी लक्ष्मी है। पुरातन समय में इस आत्मलक्ष्मी को बहुत महत्त्व दिया जाता था, इसको बड़े आदर से चाहा जाता था। अब आदर चाहने की आदत तो बनी हुई आ रही है और आदर के निशाने की चूक हो गई है। इससे पृथ्वीकाय को लक्ष्मी मानकर आदर करने का प्रचार हो गया है। वास्तविक लक्ष्मी तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। निज ज्ञानलक्ष्मी की सम्भाल करो।

4 जनवरी 1965

स्व में उपलब्ध सहज सुविधा का उपयोग तो कर लो। देखो, आत्मतत्त्व को छोड़कर अन्य पदार्थ में अनुराग जगे तो इससे बढ़कर अन्य कुछ विपदा नहीं है। अपनी ज्ञानानन्दनिधि का अवलम्बन

तजकर ज्ञानानन्द से शून्य बाह्य अर्थ की ओर उपयोग फैंक दिया तो इसमें ज्ञान व आनन्द के विकास का अवसर ही क्या रहा? बल्कि इतनी गनीमत समझो, इतनी आत्मा की उदारता समझो कि बहिर्मुखदृष्टि होने पर भी ज्ञान व आनन्द किसी भी रूप में, किसी भी मात्रा में बना हुआ है। स्व में उपलब्ध सहज सुविधा का उपयोग तो कर लो।

ज्ञानघन आनन्दमय आत्मतत्त्व का आश्रय ही परम शरण है। लोक में जो पूज्य हुए हैं वे परपदार्थ के समागम की विशेषता से पूज्य नहीं हुए हैं, किन्तु सर्व पर-विकल्प को तोड़कर उन्होंने जो समता प्राप्त की है व उसके कारण जो अत्यन्त प्रसाद प्रकट हुआ है, इस आत्मस्वच्छता के कारण पूज्य हुए हैं। पूज्य प्रभु सन्त पुरुषों की उपासना करके आत्मप्रसाद प्रकट न हो तो वह काहे की उपासना है? अन्य धन्धों की तरह यह भी एक धन्धा हो गया। ज्ञानघन आनन्दमय आत्मतत्त्व का आश्रय ही परम शरण है।

5 जनवरी 1965

विकल्प ही मेरे घातक हैं। प्रशस्त व्यवहार कार्यों के अर्थ भी विकल्पों का होना आत्मानुभव का बाधक है। वहाँ केवल इतना लाभ है कि विषयसाधन के साधकों पर राग व बाधकों पर द्वेष का अशुभ परिणाम न चलने के कारण शान्तिमार्ग की अपात्रता नहीं हुई है। परमार्थतः आनन्द का घात तो उन विकल्पों में भी है। विकल्प ही मेरे घातक हैं।

सत्य का अनुराग कर। हे आत्मन् ! यह सब समस्त लोक तेरे स्वरूप से पृथक् है तो एक बार भी समस्त परपदार्थों का विकल्प हटाकर निर्विकल्प अखण्ड अद्वैत सत्य निजस्वरूप का अनुभव तो कर ले। बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से न तो अब शान्ति है और न आगे रहेगी। सत्य बात मान लेने में भी कठिनाई समझ रहा है। असत्य का हठ छोड़, सत्य का अनुराग कर।

सत्य को मान तो लो। अच्छा लो, देखो, सांसारिक सब रियायतें भी कर लें। नहीं छोड़ते बनता है मकान तो न छोड़ो, किन्तु यह तो बताओ कि मकान तुमसे चिपका है क्या, तुम्हारे साथ चलता है क्या, मरने पर साथ जायेगा क्या? खूब विचार कर लो। यदि इन सबका उत्तर 'न' है तो इन्हें यह मान लो कि ये सब भिन्न हैं, मुझसे तो अलग होंगे ही। सच बात अन्तरंग स्वीकारता के साथ मान लोगे तो इससे कल्याण का मार्ग पा लोगे। सत्य को मान तो लो।

6 जनवरी 1965

परिग्रह के प्रेम में असन्तोष ही बढ़ेगा। धन के प्रसंग में कोई धनिक यह सोचा करे कि इतना धन होने पर फिर आरम्भ, परिग्रह में न पड़ूंगा और सत्संग, ज्ञानाराधना, धर्मपालन में समय व्यतीत करूंगा तो उसका यह सोचना स्वप्न में बर्नने की तरह है। धन के आने के प्रसंग में तृष्णा सरक-सरक कर बढ़ती चली जाती है। इसका वर्तमान प्रमाण यह है कि आज जो उन धनिकों ने आर्थिक स्थिति पाई है, यदि इतनी न होती, इसका चौथाई ही होता तो उस चौथाई के समक्ष तो यह बहुत ज्यादा है, संतोष क्यों नहीं कर लिया जाता। दूसरी बात यह है कि अनेक धनिकों के इसी जीवन में पहिले उसका हजारवां हिस्सा भी नहीं था, सो अब तो उनके हजार गुणा है तो संतोष क्यों नहीं कर पाते। परिग्रह के प्रेम में असन्तोष ही बढ़ेगा।

सन्तोष यथार्थज्ञान द्वारा ही होगा। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि जिसे जो कुछ मिला है, उसे जरूरत से कई गुना मिला हुआ समझे। ऐसा विवेक बनावे, गरीब पुरुषों की ओरदृष्टि देकर यह नियम करे कि मेरी जरूरत की पूर्ति के लिए तो इतना ही धन पर्याप्त था जितना इस गरीब के पास है। अब उससे जो अधिक मिला है वह बहुत ज्यादा है, इसकी मुझे जरूरत भी नहीं है। मिल गया है यह वैभव तो यह दूसरों के उपकार के लिए है। इसमें मेरा कुछ नहीं है। सन्तोष यथार्थज्ञान द्वारा ही होगा।

7 जनवरी 1965

अन्तस्तत्त्व की उपासना अभी से करो। परोपकार के प्रसंग में कोई सज्जन यह सोचा करे कि इतना समाज का, देश का कार्य कर लेने पर अथवा इतनी धर्मप्रभावना का कार्य कर लेने पर फिर इन सब विकल्पों का परित्याग कर दूंगा और निर्विकल्प अन्तस्तत्त्व की उपासना में सारा शेष समय लगाऊंगा तो उनका यह सोचना भी स्वप्न में बर्नने की तरह है। इस वृत्ति में विकल्पों के साधन बढ़ते चले जाते हैं। इसका वर्तमान प्रमाण यह है कि आज जो इन यशस्वियों ने यश पाया है, उनको इस यश के वर्द्धन और रक्षण की चिन्ता हो गई है। अब तो समय इसमें लगाओ कि अन्तस्तत्त्व की उपासना की सुध हो जाये अन्तस्तत्त्व की उपासना अभी से करो।

परप्रसंग से कुछ विराम तो लो। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि जिसे जो यश मिला है, उसे जरूरत से कई गुणा समझे अथवा यश की तो जरूरत ही नहीं है। परोपकार तो विषयकषायों में उपयोग न लगे, एतदर्थ आवश्यक है। परोपकार के साथ-साथ आत्मचिंतन भी अत्यावश्यक है

अन्यथा उन्नति का मार्ग नहीं पाया जा सकता है। आत्मचिंतन द्वारा जब आत्मा की अन्तर्मुखता की प्रगति होने लगती है, तब अन्तर्मुखता के विकास में परोपकार के ध्येय की पूर्ति व परिसमाप्ति हो जाती है। परोपकार के प्रसंग में भी संतोष यथार्थज्ञान द्वारा ही होता है। परप्रसंग से कुछ विराम तो लो।

8 जनवरी 1965

आत्मकल्याण के लक्ष्य में ही आनन्द मिलेगा। जिसको आत्मकल्याण का लक्ष्य नहीं है, उसका जीवन मरण दोनों बेकार हैं। आत्मकल्याण के उद्देश्य में जीवन भी सफल होता है। आत्मकल्याण की वृत्ति वाले का जीवन भी धर्ममय होता है और मरण भी धर्ममय होता है। अन्तस्तत्त्व के अनुष्ठाता के जीवन में भी आनन्द व तृप्ति रहती है और मरण में भी आनन्द व तृप्ति रहती है। आत्मकल्याण के लक्ष्य में ही आनन्द मिलेगा।

अन्यत्र कहीं मत जा, स्वात्मा का आश्रय कर। आत्माश्रय को छोड़कर और किसके आश्रय में जाना चाहते हो? जरा सोचकर बताना। सोना, चाँदी, धन, वैभव के आश्रय में जाना चाहते हो क्या? अच्छा जरा इसका उत्तर इन्हीं शब्दों को उत्तम पुरुष की क्रिया में बदलकर समाधानसभा में खड़े होकर बोलना। अरे ! नहीं बोला जाता। अच्छा तो जिन शब्दों को सभा में बोलने में लाज आती है, उसके काम करने में क्या आनन्द पा लोगे? अन्यत्र कहीं मत जा, स्वात्मा का आश्रय कर।

शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का आश्रय करो। सत्यशरण तो आत्मस्वभाव का, चैतन्यप्रभु का आश्रय है। इन शब्दों के बोलने सुनने में भी विश्राम और यश मिलता है। फिर जो संतजन शाश्वत अहेतुक चैतन्यप्रभु का आश्रय लेता है, वह अनन्तानन्द पावेगा ही, इसमें रंच भी सन्देह नहीं है। समस्त पर को छोड़कर जाना ही होगा। पर के आश्रय में क्या भला है? शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का आश्रय करो।

9 जनवरी 1965

मोह का नशा मत कर, फिर आनन्द ही आनन्द है। मोह के नशे का पागलपन इस जीव को क्लेश दे रहा है। जीव तो स्वरूपतः आनन्दमय है। सब मामला साफ-साफ है। सब अपने-अपने घर के हैं। कहाँ विपदा है, कहाँ असुविधा है? कोई अपनी निधि को भूलकर भीख मांगते फिरने में ही

चतुराई समझे तो इसका इलाज दूसरा कौन करे? मोह का नशा मत कर, फिर आनन्द ही आनन्द है।

आत्मा से बाहर कहीं भी कुछ मत ढूँढ़ो। आत्मा से बाहर ढूँढ़ने की कुछ आवश्यकता तो है नहीं। आत्मोपयुक्त होने पर चिरबद्ध देह का, कर्म का बंधन भी तो नहीं रहता, फिर क्षुधा तृषा की शंका ही क्या; सम्मान अपमान की शंका क्या? सुख-शान्ति के लिए तो अदल-बदल करके कितना ही तो तुम श्रम करते, कितने आरम्भ में उद्योग करते? अनेक लाखों उद्योग बदल डाले। अब जरा एक आत्मोद्योग करके भी तो देखो- निर्विकल्प होकर शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र अपना अनुभव तो कर लो, यदि यहाँ आनन्द न मिले तब कुछ और सोचना। सर्वसिद्धि तो यहाँ ही, यहीं से ही प्राप्त होती है, फिर आत्मा से बाहर कुछ ढूँढ़ना, कहीं भी ढूँढ़ना निपट अज्ञान है। सर्प से डसा हुआ तो एक बार ही बरबाद होता है, किन्तु अज्ञान का डसा तो भव-भव में बरबाद होता चला जा रहा है, इसका कुछ भी विवेक नहीं किया जाता। आत्मा से बाहर कहीं भी कुछ मत ढूँढ़ो।

10 जनवरी 1965

आनन्द तो समता में ही है। बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से आनन्द मानना तो अज्ञान की अंधेरी रात में मोह की नींद में बराने वाली बात है। प्राणी जन्म लेता है और मरण कर जाता है। जितने दिनों जिया, उनकी गिनती इतनी भी नहीं है जितनी कि विशाल सागर में एक बूंद है। विशाल सागर की वे बूंदें असंख्यात हैं अनंत नहीं, किन्तु काल के समय, वर्ष, दिन अनंत हैं। उन अनंते समयों में जीवन के समय गिनती ही नहीं आते। इस दुर्लभ अल्पक्षण को व्यर्थ मत खोओ भोगों में। आनन्द तो समता में ही है।

दुर्लभ क्षण को व्यर्थ मत खोओ। इस क्षणभंगुर जीवन में मायारूपों का आदर करना महती मूढ़ता है। संसारगर्त के नीचे हिस्से से उठकर ऊपर के अंश तक आए और यहाँ भी प्रमाद बने रहे तो बताओ मेरे प्रियतम ! अब के गिरे कब इस महागर्त से उठ पावोगे? जिसे सूझता है अर्थात् ज्ञाननेत्र जिसके उघड़ गये हैं, वह जीव निर्भय व निराकुल रहता है, उसका ही नरजन्म पाना सफल है। दुर्लभ क्षण को व्यर्थ मत खोओ।

11 जनवरी 1965

तुम अपने आपमें शुद्ध ज्ञानी भर रहे आवो। फिर कोई कष्ट ही नहीं है। हमें तत्त्वज्ञान प्रबल मिला है, इसकी निजव्यवहारिक पहिचान यह है कि यश-प्रशंसा के शब्द सुनने से रंच भी हर्ष न हो और अपयश-निन्दा के शब्द सुनने से रंच भी विषाद न हो। मान लो सारा जगत् हमारे सम्बन्ध में अपयश कर रहा है, निन्दा फैला रहा है तो क्या उन भाषावर्गणावों की पर्यायों से इस ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अमूर्त आत्मा का टकराव हो गया है, क्या हो गया है? कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। फिर क्यों विषाद की मात्रा हो? यदि विषाद होता है तो इसका सीधा निष्कर्ष यह निकला कि हमें इस सादिसान्त, विजातीय विभावव्यञ्जनपर्याय से व्यामोह है, जिससे अनुरक्त होकर अपने अबद्ध अस्पृष्ट चैतन्य स्वभाव की सुध खो दी है और इस अध्रुव जड़ को अपना सत्त्व मान लिया है। यही व्यामोह तेरे पर संकट है, अपयश निन्दा के शब्द तुम पर संकट नहीं हैं। अतः अपयश निन्दा की बात सुनकर घबरावो मत, किन्तु वस्तुस्वरूप पर, तत्त्वस्वातन्त्र्य पर दृष्टि बनाने का यत्न करो। देखो, साधर्मीजनों द्वारा अवहेलना होने को निर्जरा का कारण बताया है। सो इस अवहेलना में बिगाड़ कुछ नहीं है, भलाई ही मिलेगी। तुम अपने आप में शुद्ध ज्ञानी भर रह आवो।

12 जनवरी 1965

शुद्ध परमोत्कृष्ट ज्ञानानन्दस्वरूप को देखो और प्रसन्न होओ। मान लो सारा देश हमारे सम्बन्ध में यश और प्रशंसा के शब्द फैला रहा है तो क्या उन भाषावर्गणावों की पर्याय से इस ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र अमूर्त आत्मा का कुछ टकराव हो गया है, क्या हो गया? कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं, उन समस्त जड़ चमत्कारों का आत्मा में अत्यन्ताभाव है। फिर भी यदि उन प्रशंसा के शब्दों से हममें कुछ हर्ष होता है तो इसका सीधा निष्कर्ष यह निकला कि हमें सादि-सान्त मूर्त विजातीय विभावव्यञ्जनपर्याय से व्यामोह है। जिस अन्धेरी के कारण हमने शुद्ध निजतत्त्व की सुध खो दी है, यह व्यामोह ही तेरे पर महान् संकट है। ये शब्द न तो इस भव में कुछ शान्ति कर पाते हैं और न परभव में शान्ति कर सकेंगे। ये शब्द तो कुछ ही समय बाद मिट जाते हैं। उन शब्दों की तरंगे या उन शब्दों के निमित्त से परिणत हुई अन्य ध्वनियाँ भी कुछ समय के बाद मिट जाती हैं तथा ये शब्द भिन्न एवं अचेतन हैं। इनसे तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। फिर शब्दों को सुनकर हर्ष या विषाद का क्षोभ करना कैसे कर्तव्य हो सकता है? शुद्ध परमोत्कृष्ट ज्ञानानन्दस्वरूप को देखो और प्रसन्न होओ।

13 जनवरी 1965

हे आत्मन् ! सदा गुणग्राही बनो। गुण ग्रहण करने का स्वभाव रखोगे तो गुण का उपयोग होगा, गुण का लाभ होगा, गुण का विकास होगा। दोषग्रहण करने का स्वभाव रखा तो दोष का उपयोग होगा, दोष का लाभ होगा, दोष का विकार बढ़ेगा।

अच्छा, किसी के दोष ग्रहण किये और दोष बखान कर स्वपर वातावरण गन्दा किया तो बताओ इससे दूसरे को क्या शिक्षा पहुँचाई या क्या लाभ पहुँचाया या क्या नुकसान पहुँचाया? इससे तुमने अपने आपको ही दोषमय बनाकर अपनी बरबादी की।

अब देखो, गुणग्रहण में कितने लाभ हैं? किसी के गुण देखोगे तो स्वयं के गुण का प्रभाव करके ही तो गुण देख सकोगे। इसमें अपना उपयोग गुणमय बनाया, इससे गुण की प्राप्ति हुई। इस विशुद्ध कार्य से गुण का विकास भी पाया।

हाय रे मोहपिशाच ! तेरे अन्दर में रहने से लाभ तो रंच नहीं है, बरबादी ही सारी की सारी है। जो भव्यात्मा मोहपिशाच से दूर रहते हैं, उनका प्रवर्तन पूज्य है। निर्मोह भव्यात्माओं को हमारा हार्दिक अभिनन्दन व वन्दन होवो। इस अभिनन्दन के प्रसाद में तुम आत्मविकास के लिए अपने लिए यह शिक्षा ग्रहण करो। हे आत्मन् ! सदा गुणग्राही बनो।

14 जनवरी 1965

तुम्हें सुखी होना हो तो अपने आपका अवलम्बन लो। हे आत्मन् ! तुम्हें कौन दूसरा सुखी कर सकेगा? तू ही अपना विशुद्ध ज्ञानप्रकाश बना और सुखी हो जा। खुद का परिणमन सुधारे बिना शान्ति पा ही न सकेगा।

देख स्वयं की परिणति विशुद्ध बना, फिर बाहर यह कुछ भी न देख कि कौन मुझे भला कह रहा है और कौन मुझे बुरा कह रहा है? शुद्ध परिणाम से रहने पर भी कोई अपयश बुराई फैलाये तो उससे भला ही है। जो कर्म बहुत दिनों तक भी निर्जरा को प्राप्त न होते, वे शीघ्र निर्जीर्ण हो रहे हैं। साधर्मिजनों के द्वारा अवहेलना होना निर्जरा का काम है। तुम्हें तो शुद्ध और शांत एवं समझदार रहना चाहिए। अपना कर्तव्य ठीक बनाओ और निःशंक होकर अनन्त आनन्द की निधि की दृष्टि से लाभान्वित होकर प्रसन्न रहो। ऐसा ज्ञानबल बढ़ाओ कि अन्य जीव जो कुछ करते हैं, उनमें उनकी स्वतन्त्रता और उनकी क्रिया का उन्हीं पर प्रभाव होना स्पष्ट दिखने लगे। वस्तुस्वरूप भी यही है कि

प्रत्येक जीव अपना परिणमन करता है और उस परिणमन का वही अनुभव करता है। तुम्हें सुखी होना हो तो अपने आपका आलम्बन लो।

15 जनवरी 1965

बाह्यसमागम में अहंकार मत करो। किसी भी लौकिक बाह्यसमागम पर अहंकार करना भी गहन अन्धकार है। इस मोही को यह भान भी नहीं है कि मलिन जीव पर अचानक क्या से क्या विपत्ति आ सकती है? ऐसे ऐसे अभिमानी जीव के जो पापकर्म बंधता है, उसके उदय से अथवा इस कलुषित भाव के कारण हुई उदीरणा के वश से इस जीव पर विपत्ति आना तो और जल्दी होता है। हे आत्मन् ! किसी लौकिक स्थिति पर अभिमान मत कर, क्योंकि प्रथम तो तूने पाया ही क्या है? लोक में पुण्य की उत्कृष्टता के जौहर तो चक्रवर्ती, तीर्थंकर के होते हैं, उन्हें भी तो समझादूसरी बात यह है कि जो कुछ मिला भी है अभी, वह कुछ समय बाद ही विलीन हो जायेगा। हे प्रियतम ! झूठी विभूति पर अभिमान करने के फल में तू न तो यहाँ ही भला बन पायेगा और नपरलोक में भला बन पायेगा। इस कलुषित आशय से अनेक पापकर्मों का बन्ध करके केवलक्लेश भोगने के लिए संसार में जन्म-मरण करता रहेगा। बाह्यसमागम में अहंकार मत करो।

16 जनवरी 1965

हे आत्मन् ! खोटा काम कभी मत करो, इसी में भलाई है। आत्मपरिणाम का प्रभाव निमित्तनैमित्तक पद्धति में शरीर पर भी होता है। देखो, जब आत्मपरिणाम पूर्णनिर्मल अपरिस्पंद हो जाता है, तब शरीर से सर्वथा सदा के लिए मुक्त हो जाता है- यह अतिशुद्ध प्रभाव है। जब घातियाकर्म नष्ट होने पर अनन्तचतुष्टयसम्पन्न हो जाता है, तब शरीर परमौदारिक हो जाता है। यह आत्मपरिणाम का विधिरूप शुद्ध प्रभाव है। इसी प्रकार निचली अवस्था में भी जब आत्मपरिणाम निर्मल होता है, तब शरीर का निरोग स्वस्थ रहना रूप प्रभाव देखा जाता है।

जब आत्मा के शुद्ध परिणामों के निमित्त से शरीर पर उत्तम प्रभाव देखा जाता है, तब यदि क्रोध करते रहने वाले जीव का शरीर सूखा निर्बल रहा करे, अभिमान करने वाले जीव का शरीर विरूप रहा करे, मायाचार करने वाले जीव का शरीर लकवा आदि अनेक रोगों से ग्रस्त हो जाया

करे, लोभकषाय में रंगे रहने वाले जीव का शरीर रूखा, विह्वल आदि कुमुद्रावों में रहा करे तो इसमें क्या आश्चर्य है? हे आत्मन् ! खोटा परिणाम कभी मत करो, इसी में भलाई है।

17 जनवरी 1965

हे प्रियतम ! ज्ञानशक्ति का लाभ उठावो। देखो, जैन सिद्धान्त में वस्तु स्वरूप का निष्पक्ष प्रतिपादन है। वस्तु स्वरूप के यथार्थ अवगम से आत्मशान्ति प्राप्त होती है। आत्मशान्ति के सन्दर्भ में कितना अमूल्य सुयोग पाया है, किन्तु अनादि मोहसंस्कारवश पर्यायबुद्धि के कारण वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में भी पक्ष हो जाता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है। दो और दो चार होते हैं, यह जानकर भी दो और तीन सिद्ध करने की या दो और पाँच सिद्ध करने की कला प्रकट होना भी ज्ञानावरण के क्षयोपशम की एक विशेषता है। यदि मोहनीय का प्रबल उदय न हो तो इस ज्ञानावरण के क्षयोपशम की विशेषता का बड़ा लाभ उठाया जा सकता है। हे प्रियतम ! ज्ञानशक्ति का लाभ उठाओ।

मोह हटाने में ही अपना कल्याण है। सारा क्लेश मोह का है, ज्ञान तो स्वरूप की आबादी के लिए है। जब कभी क्लेश हो तो उस क्लेश का कारण मोह जानो। मोह छोड़ने में क्या संकट है? क्योंकि मोह तो स्वयं अवास्तविक है, प्रत्युत मोह के छोड़ने से संकट और समाप्त हो जाते हैं। सब पदार्थ अपने-अपने स्थान में हैं, किसी का भी कभी विनाश नहीं होता। हाँ कल्पना में अपना कुछ मान लिया, इससे परवियोग में संकट होता है। संकट से बचना है तो उसका एक ही यह सुगम उपाय है कि किसी को अपना कुछ मत मानो। है भी तो कोई नहीं अपना। मोह हटाने में ही अपना कल्याण है।

18 जनवरी 1965

मान लो, दुःख पाने का ऊधम मत मचाओ। देखो तो सर्वसंकटों से बचने का सुगम उपाय तो है, याने कुछ भी परवस्तु अपनी नहीं है। सो अन्तरंग में ऐसी ही समझ बना लो कि कुछ भी पर मेरा नहीं है। जो स्वयं यह मैं हूँ ज्ञानप्रकाशमात्र, उसे अपना सर्वस्व जान लो। कैसा ज्ञानसाध्य सुगम उपाय है? यह भी करते न बने तो फिर शांति के लिए चर्चा करना छोड़ दो और इस लोक की नाना भेषों में सैर करते रहो। मान लो, दुःख पाने का ऊधम मत मचावो।

धर्म का प्रारम्भ यथार्थज्ञान से होता है। ज्ञान को ही तो व्यवस्थित बनाना है। ज्ञान का व्यवस्थितपना ज्ञान से ही सम्भव है। इस मायामय जगत् में रूपक को हर प्रसंगों में प्रस्तुत करना तो अपने प्रभु का अपमान कराना है। प्रभु का अपमान करके कहाँ आनन्द पा लोगे? यही तो प्रतिक्षण की सृष्टि का विधाता है। इस अपने प्रभु के सम्मान में सत् सृष्टियों का सर्जन है और अपने प्रभु के अपमान में खोटी सृष्टियों का भुगतान है। विषयकषाय, मोह के परिणामों का अनुमोदन करना निर्विषय, निष्कषाय, निर्मोह आत्मप्रभु का अपमान है। जो प्रभुता के घातक हैं, उनका अनुमोदन प्रभु का अपमान करता है और प्रभुता के बाधकों का निराकरण करने वाला प्रभु का सम्मान करता है। धर्म का प्रारम्भ यथार्थज्ञान से होता है।

19 जनवरी 1965

क्षणिक परभावों का आदर मत करो। रागद्वेष के परिणाम क्षणभर को आते हैं। जो परिणाम जिस क्षण आता है वह परिणाम दूसरे क्षण नहीं ठहरता, उस क्षण उस परिणाम का समर्थन न करे तो क्षणभर का यह पुरुषार्थ आत्मा को संकटों से बचा लेगा। ऐसा यह परम पुरुषार्थ परमपिता, परमशरण, शाश्वत निजचित्स्वभाव के आश्रय में ही बनता है। अतः सर्वसामर्थ्य सहित आत्माके सहज स्वरूप के अवलम्बन में उपयोग को लगाओ। क्षणिक परभावों का आदर मत करो।

आत्मबल जगाओ। देखो कभी बलिष्ठ उपादान होगा, तब न कुछ त्याग का विकल्प होगा, न किसी प्रवृत्ति का विकल्प होगा; किन्तु जब तक उपादान में बलिष्ठता नहीं आई है, तब तक तो कषाय के बाह्य साधनों का परित्याग करना व परित्याग करने का यत्न करना ही चाहिये, अन्यथा खतरा ही खतरा है। कुछ बात न करना क्यों बोझ मालूम होता है? इसका सीधा अर्थ यह है कि पराधीनता के त्याग के लिए उत्साह ही नहीं जगा है। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्रता का गुणगान करना केवल दूसरों को बहकाना है। हे मुमुक्षु ! मुमुक्षुता को अर्न्वर्थ बनाओ। हे जिज्ञासु ! जिज्ञासुता की पूर्ति करके ज्ञान का फल पावो। हे उन्निनीषु ! अवनति से हटकर अर्थात् रागद्वेष से हटकर उन्नति में आओ अर्थात् केवल ज्ञाताद्रष्टा रहो। आत्मबल जगाओ।

20 जनवरी 1965

संयमी जनों की सेवा करो। जहाँ असंयमी जनों का समागम रहा करे, संयमियों का संग न हो, वह स्थान संयमी के रहने योग्य नहीं है। संयमी पुरुष या तो निर्जन स्थान में रहता है या संयमियों के संग में रहता है। जहाँ मात्र असंयमियों का संग रहे- ऐसे स्थान पर रहना अवनतिका हेतु होने से प्रतिषिद्ध है। कहीं संयमियों का संग न मिले तो संयमी संतजनों के प्रणीत ग्रन्थों का स्वाध्याय करते रहना- यह भी संयमियों का भावसंग है। ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के स्वाध्याय में ऋषिवचन तो मिल ही रहे हैं। उस समय के अपूर्व आनन्दरस से हर्षित होकर जो उनका स्मरण होता है, उस स्मरण के माध्यम से ऋषियों का संग भी हो रहा है। किसी भी प्रकार से हो, संयमी जनों की सेवा करो।

सत्संग सदा जयवंत होवो। जो उत्तम आचार-विचार वाले हैं, वे सत् हैं, उनका संग जयवंत होओ। जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हैं, आत्मतत्त्व के मनन में अनुरक्त हैं, वे सत् हैं, उनका संग जयवंत होओ। जो मुझमें सर्वत्र सर्वदा शाश्वत अन्तःप्रकाशमान् सहज तेज है, उसका उपयोग द्वारा संग जयवंत होओ। सत्संग सर्वसंकटों से बचाने वाला है। परात्पर सत् का संग परात्पर आनन्द का कारण है। सत्संग सदा जयवंत होओ।

21 जनवरी 1965

सहजतेज का मिलन ही संकटहारी मिलन है। अन्य समस्त पदार्थों का मिलन किसी न किसी रूप में संकट का ही प्रदाता है। कोई वस्तु मन के अनुकूल मिली तो रागरूपी आग को प्रज्वलित करके आत्मा को बरबाद कर देने का कारण बनती है। कोई वस्तु मन के प्रतिकूल मिली तो द्वेषरूपी आग को प्रज्वलित करके आत्मा को बरबाद कर देने का कारण बनती है। इस कारण सदा अन्तर में यही धुन रहे कि मुझे तो मेरे सहज तेज का ही मिलन हो।

हे आत्मन् ! पर की किसी प्रवृत्ति में भी भय मत मानो। पर का पर में ही परिणामन होकर उस पर में ही परिसमाप्त हो जाता है। संकट किसी भी पर में नहीं है। हम ही कल्पना में कल्पित बड़प्पन का जाल गूँथते हैं और परजीव भी कल्पना में कल्पित अपने बड़प्पन का जाल गूँथते हैं। अब एक समान स्वार्थ होने से किसी की प्रवृत्ति को स्वार्थबाधक मान लेना- यह तो मन की एक कल्पना है। यहाँ संकट किसी दूसरे ने क्या दिया? सो बताओ। अपने को अपने स्वरूप की ओरले जाओ, बस सारा विवाद खत्म हो जावेगा। स्वरूपमग्नता के यत्न में कहीं संकट नहीं है कुछ। सहज तेज का मिलन ही संकटहारी मिलन है।

22 जनवरी 1965

मुख्य आवश्यक काम तो आत्मदर्शन ही है। आवश्यक काम को न करके अनावश्यक कामों को दिल बहलाने की प्रेरणा से करके समय बिताना और आवश्यक काम को फिर कर लिया जाएगा, यों सोचकर पिछड़ा कर देना विवेकियों की प्रकृति नहीं है। विवेकीजन तो आवश्यक काम की पहिले सुध रखते हैं, पीछे यथावसर किंचित् प्रयोजन से कुछ अनावश्यक कार्यों को दिल बहलाव की प्रेरणा से करते हैं। मुख्य और गौण कार्यों में गौण को पहिले करना और मुख्य को बाद में करना अथवा मुख्य को पहिले करना गौण को बाद में करना- इन दोनों पद्धतियों में समय व श्रम यद्यपि एकसा ही लगा, तथापि गौण कार्य को प्राथमिकता देने से उलझन व विडम्बना बढ़ जाती है। इस कारण हितकारी मुख्यकाम की प्राथमिकता ही विवेक का काम है। आवश्यक काम तो स्वाधीन, अवश, आत्मावलम्बन का ही है। अन्य प्रवर्तन जो भी इस कार्य के लिए निमित्तरूप सहायक हों, वे भी आवश्यक काम किसी अवधि तक कहलाते हैं। मुख्य आवश्यक काम तो आत्मदर्शन ही है।

23 जनवरी 1965

सबको अपना अप्पा ही प्रिय है। इस आत्मा को प्राकृत में अप्पा कहते हैं। जैसे बच्चों को अप्पा प्रिय है, प्यासों को पप्पा प्रिय है, व्यापारियों को ठप्पा प्रिय है, खोजियों को छप्पा प्रिय है, मौजियों को गप्पा प्रिय है वैसे ही क्या, उससे भी अत्यधिक सबको अपना अप्पा ही प्रिय है।

24 जनवरी 1965

मिथ्यात्व व अन्याय से दूर रहो। इन परिणामों से अशुभ बन्धन होता है। जीव की भली खोटी करने का न्याय जीव में तत्काल हो जाता है और उस न्याय के फल का भोग कुछ ही निश्चय समय के बाद भोगना पड़ता है। इस कारण जीव का कर्तव्य है कि वह मिथ्यात्व व अन्याय का परिणाम न करे। मिथ्यात्व व अन्याय का परिणाम न होने से तत्काल भी अनाकुलता रहेगी, भविष्य में भी अनाकुलता रहेगी। मिथ्यात्व व अन्याय से दूर रहो।

25 जनवरी 1965

प्रभुभक्ति, सत्संग व स्वाध्याय से आत्मपवित्रता बढ़ाओ। परिणाम की उज्ज्वलता रखने का सीधा सुगम उत्तम उपाय आजकल के समय में प्रभुभक्ति, सत्संग व स्वाध्याय है। इन तीनों में भी सत्संग का उपाय सुगम है। उससे अधिक चिन्तना से अधिक सम्बन्ध रखने वाला उपाय प्रभुभक्ति है और उससे भी अधिक चिन्तना से सम्बन्ध रखने वाला उपाय स्वाध्याय है। सत्संग तत्काल प्रभावक होता है, किन्तु सत् पुरुषनि का मिलना कठिन है। प्रभुभक्ति भी करना सुगम है, किन्तु प्रभु के यथार्थस्वरूप पर दृष्टि होना कठिन है। स्वाध्याय कर लेना भी सुगम है, किन्तु प्रतिपाद्यतत्त्व की चिन्तना व उसका मर्म पा लेना कठिन है। सत्पुरुष मिल जाएँ, ज्ञानी विरक्त सन्त मिल जाएँ तो उनका सत्संग मिलना उत्कृष्ट होनहार का सूचक है। प्रभु के स्वरूपस्मरण से प्रभुभक्ति बन जाना उत्कृष्ट होनहार का सूचक है। तत्त्वमर्म का परिचय पाते रहने के साथ-साथ सत्शास्त्रों का स्वाध्याय बन जाना उत्कृष्ट होनहार का सूचक है। प्रभुभक्ति, सत्संग व स्वाध्याय से आत्मपवित्रता बढ़ाओ।

26 जनवरी 1965

अपनी वास्तविक आजादी में ही शांति है। हे आत्मन् ! जब जब अशांति हो तो उसका कारण परवस्तुविषयक राग को ही जानकर यह खोज करो कि मैंने किस वस्तु के सम्बन्ध में राग किया है? जिस वस्तु का राग किया हो, भेदविज्ञान के बल से उस राग को मिटा दो तो बस अशांति विलीन हो जाएगी। राग से ही तो अशांति हुई और उस ही राग को पोषकर अशांति दूर करने का, शांति प्राप्त करने का स्वप्न देखा जाए तो वह कोरा भ्रम ही है। पर के राग में आजादी नष्ट हो जाती है। जब आजादी नहीं है, तब कष्टों का बना रहना प्राकृतिक है। समस्त राग मिटाओ और निज आजादस्वरूप को निरखकर अपनी आजादी प्राप्त करो। अपनी वास्तविक आजादी में ही शान्ति है।

27 जनवरी 1965

यह संसार तो संकटों की दुकान है। इसके भण्डार में इतना स्टॉक है- जन्म, मरण, बुढ़ापा, अज्ञान, विषयसुख भ्रम, क्रोधज्वाला, मानभिक्षा, मायावन, लोभपंक, आधि, व्याधी, उपाधि, क्षुधा, तृषा, शोक, चिन्ता, आशा, प्रतीक्षा, रागपीड़ा, द्वेषदहन, मोहमत्तता, कलह, विसंवाद, ईर्ष्या, घृणा, परिवाद, अपवाद, कुयोनिपतन, वध, बन्धन, छेदन, भेदन, गुलामी, परवशता, परोपजीविता, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, इष्टहरण, भोगविघात, वैरप्रतीकार, ताड़न, चाहदाह, विषयपतन, ऐंठ, दृढ़,

आक्रमण, दबाव, निदान, धोखा, झूठ, कुशील, विकल्प आदि। इनके अन्तर्गत नाना खटपटें और बेशुमार हैं। इस असार संसार से उपयोग हटाकर जो सहज स्वरसविसरशुचि ज्ञानस्वभाव में रमते हैं, वे कल्याणार्थीजनों के आदर्शरूप हैं। यह संसार तो संकटों की दुकान है।

28 जनवरी 1965

पर की प्रीति तजो। पर प्रसंग से जितने दूर रहोगे, उतने ही निर्व्याकुल रहोगे। पर की प्रीति से लाभ कुछ भी नहीं है। स्वास्थ्य साधन और आत्मकल्याण के अतिरिक्त अन्य कुछ आवश्यक हीक्या है? अनावश्यक की प्रीति विपदा का ही कारण होती है। परपदार्थ का कार्य अपने लिये अनावश्यक है। परपरिणति की प्रीति व्याकुलता उत्पन्न करती है, अतः पर की प्रीति तजो।

29 जनवरी 1965

शान्ति तो वस्तुतः विशुद्धज्ञानदर्शनात्मक अन्तस्तत्त्व के आलम्बन में ही है। यह ध्रुव सत्य है, त्रिकाल सत्य है। इस सम्बन्ध में लेश भी यह छूट नहीं है कि कभी शान्ति का उपाय यह होता है, कभी अन्य कुछ होता है। किसी अन्य प्रसंग में यदि कुछ शांति मानी जाती हो तो उसका अर्थ यह लेना है कि किसी बड़ी अशांति में कमी हो गई है। वस्तुतः शांति तो विशुद्धज्ञानदर्शनात्मक अन्तस्तत्त्व के अवलम्बन में ही है।

30 जनवरी 1965

मन, वचन, काय के वश किए बिना संसार-विजय नहीं हो सकता। मन, वचन, काय के व्यापार को संसार जो कहा गया है वह युक्त ही है, क्योंकि मन, वचन, काय का जब व्यापार उपशांत होता है तब निर्विकल्पता व आनन्द का अनुभव होता है। इस आत्मानुभूति में जन्म, मरण, जगजाल, विकल्प आदि संसार लेशमात्र भी दृष्ट नहीं होता है। अतः हे आत्महितार्थी ! मन के पसारा को रोक, अधिकाधिक मौन से रह, कायचेष्टा को तज अथवा स्वहित प्रयोजन से शुभ कायचेष्टा कर। मन, वचन, काय के वश किये बिना संसार-विजय नहीं हो सकता।

31 जनवरी 1965

विरागता ही तेरी सच्ची माता है, क्योंकि तेरा हित और आनन्द विरागता के प्रसाद से होता है। तू अपनी हितकारिणी वैराग्यमाता की सेवा कर। विरक्तिपरिणमन शुद्ध ज्ञान का अविनाभावी है। तू शुद्ध ज्ञान बनने का व शुद्ध ज्ञान बनाये रहने का पुरुषार्थ कर। जिस ज्ञान में वस्तुस्वरूप की स्वतन्त्रता विदित रहती है और इसके प्रताप से अहंकार, ममकार, कर्तृत्वबुद्धि व भोक्तृत्वबुद्धि में विपरीत आशय विनष्ट हो जाते हैं- ऐसे स्वच्छ ज्ञान को शुद्ध ज्ञान कहते हैं। ऐसे शुद्ध ज्ञान का आश्रय करके विरागता माता का प्रसाद पा। विरागता ही तेरी सच्ची माता है।

1 फरवरी 1965

आवश्यक कर्तव्य की सँभाल करो। आत्मा का आवश्यक काम आत्मावलम्बन है और वह आत्माश्रित है। आत्मावलम्बन के अतिरिक्त अन्य सब काम अनावश्यक हैं अर्थात् परतन्त्र पुरुष के द्वारा किये जाने वाले हैं, पराश्रित हैं। पराश्रित भाव में किसी न किसी प्रकार का क्लेश ही है, आत्माश्रित भाव में विशुद्ध आनन्द है। आत्माश्रित भाव ही आवश्यक कर्तव्य है। आवश्यक कर्तव्य की सँभाल करो।

2 फरवरी 1965

“जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठा।” इस परमात्मपदार्थ में क्या-क्या रत्न पड़े हैं, इसकी खबर बाह्य दृष्टि में, व्यवहार दृष्टि में कैसे हो सकती है? रत्न तो देखना है आत्मतत्त्व के और दृष्टि की जा रही हो अनात्मतत्त्व की, तो इस विरुद्ध यत्न से अध्यात्मरत्नों का कैसे दर्शन होगा? देखो, अध्यात्मरत्नों की खोज करने वाला ज्ञान है और रत्न खोजे जाने वाले हैं ज्ञानस्वरूप आत्मा में, तब ज्ञानस्वरूप निज आत्मा के अत्यन्त आन्तरिक मर्म में ज्ञान का प्रवेश और ममत्व हो तो अध्यात्मरत्नों का दर्शन व अनुभव हो सकता है। “जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठा।”

3 फरवरी 1965

लोकेषणा सबसे अधिक गन्दी भीख है। भिखारी लोग घरों पर, दुकानों पर जा-जाकर पैसे की, रोटी की भीख मांगते हैं, उससे कुछ मतलब तो हल होता है- वे भूख मिटाते हैं, ठण्ड की बाधा

मिटते हैं, किन्तु लोग मुझे अच्छा कहें, यों लोगों से आशा रखना, लोगों से प्रशंसा के वचनों की भीख मांगना- इस भीख से क्या मतलब हल होता है? न तो भीख मिटती है, न परलोक सुधरता है, बल्कि यह ख्याल बड़ी बेवकूफी का ख्याल है। लोक में सर्वपदार्थ स्वतन्त्र हैं, प्रत्येक जीव केवल अपने भावों का कर्ता, भोक्ता हो सकता है, किसी का किसी अन्य जीव पररंच भी अधिकार नहीं है। यह सब दृश्यमान कल्पनाजाल है, स्वप्नवत् असार है। अनाधिकारी असार पापपंकमलिन असहाय लोगों से अपने बारे में कुछ प्रशंसा की बात सुन लेने की भीख चाहना कितनी गन्दी भीख है, जिसमें लाभ का अंश भी नहीं है। लोकेषणा सबसे गन्दी भीख है।

4 फरवरी 1965

सब कुछ देख लिया, सार यही है। बाहर में जहाँ गया, जिसे अपनाया, जिससे सुख की आशा की, जिससे मन लगाया, जिसके लिए जीतोड़ परिश्रम किया, उन सबसे ठोकरें ही लगी, क्लेश ही पाए, अशांति की ज्वाला में ही जला। यों मानवजीवन के अमूल्य क्षण गंवाये, धर्म के अनर्घ्य साधनों से पीठ फेरे रहा। बाहर में सब कुछ देख लिया, वहाँ सार का नाम ही नहीं है। कुछ थककर बाहर से निराश होकर, उत्सुकता को तोड़-मरोड़कर, विश्रामता पाकर, सुमति के निकट आकर कुछ अन्तर वैभव को देखने लगे, तब फिर भान हुआ कि अहा ! अपना समस्त वैभव, शरण, आनन्दनिधान, सब कुछ सार यही तो है, जहाँ अलौकिक प्रकाश है, समस्त क्लेशों का क्षय है, अद्भुत परमआनन्द अनुभव है। सब कुछ देख लिया, सार यही है।

5 फरवरी 1965

क्लेश तो कुछ है ही नहीं। बाह्य सब पदार्थों से उपेक्षा कर लो और क्लेशों से छुट्टी पा लो। बाह्य पदार्थों से स्नेह लगाए बिना तो क्लेश होते ही नहीं। भावनामात्र क्लेश है, वह सब पर का सम्बन्ध मानने से होता है। तेरा किसी भी अन्य वस्तु से न सम्बन्ध था, न है और न हो सकेगा। तब फिर जो सत्य बात है उसको मान लो, समस्त परपदार्थों से उपेक्षा कर लो, फिर तो स्पष्ट समझ जावोगे कि यह मैं तो स्वयं आनन्दस्वरूप हूँ। क्लेश तो कुछ है ही नहीं।

6 फरवरी 1965

अपने आप से अपने उपयोग का सम्बन्ध जोड़ो। अनादि से अब तक अज्ञान का आवरण ओढ़ा, सोचता ही रहा, चाहता ही रहा कि अब मिलेगा सुख, अभी तो जो सुख मिला है वह बिल्कुल ही थोड़ा है। यही सोचकर, विषयों की आशा से प्रेरित होकर बाहर की ओर बेलगाम दौड़ा, किन्तु मिला क्या? मिलने की बात तो दूर रही, खोया ही था अपना सब कुछ। आत्मन् ! बाह्य की ओरमरा क्यों जा रहा है? दृश्यमान सब भौतिक हैं, चाहे सोना हो, चाहे रोड़ा हो। उनमें दिल लगाना अन्धेर है। बाह्य से नाता तोड़ो, पर्यायबुद्धिता की ग्रन्थि फोड़ो, ममता का सम्पर्क छोड़ो, अपने आपसे अपने उपयोग का सम्बन्ध जोड़ो।

7 फरवरी 1965

पर के विकल्पों को पूर्णतया हटाकर धर्मपालन करो। धर्म के आधारभूत अन्तस्तत्त्व के और उपयोग के बीच विकल्प का महीन भी आवरण रहे तो भी धर्म से भेंट नहीं होती। यदि धर्म की रुचि जगी है तो धर्म के बनकर धर्म की दृष्टि करो। जितने क्षण भी धर्म करने का यत्न करो, यही प्रयत्न करो-पर के विकल्पों को पूर्णतया हटाकर धर्मपालन करो।

8 फरवरी 1965

बाहर में जितना सम्पर्क रखोगे, बढ़ाओगे, उतने ही विह्वल होओगे। तेरा मात्र तू ही है। तेरे साथ तो तेरे ये विभाव भी न रहेंगे, जिनसे प्रेरित होकर आत्मसुध खो बैठता है। जब तेरे में उठे विभाव भी विश्वास्य नहीं, फिर और किसकी कहानी कहते? देह भी यहाँ विशीर्ण हो जाता है, बाह्य वैभव सब नियम से वियुक्त हो जाते हैं। यह अन्तर्जगत् व बाह्यजगत् सब कुछ अविश्वास्य व अरम्य है। अनात्मतत्त्व के सम्पर्क में आत्मपतन ही है। बाहर में जितना सम्पर्क रखोगे, बढ़ावोगे, उतने ही विह्वल होओगे।

1 मार्च 1965

सांसारिक कार्यों में तो दैव प्रधान है और मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ प्रधान है। सांसारिक वैभव लाभ में पूर्वबद्ध पुण्यकर्म का उदय निमित्त कारण है, किन्तु वह पुण्यकर्म बन्धा था जीव के पुण्यभाव याने

शुभभाव का निमित्त पाकर और वह शुभभाव भी जीव का पुरुषार्थ है, इस प्रकार नजर करने पर यह भी सिद्ध होता है कि सांसारिक सुख लाभ भी पुरुषार्थ से मिला है, लेकिन यह कारणरूप पुरुषार्थ भावपुरुषार्थ है। यदि देहबल प्रयोग को पुरुषार्थ कहा जाए तो उस प्रसंग में यह निर्णय है कि सांसारिक सुख लाभ में देव ही शरण है, यह देहबल प्रयोग, धौंस, कषायित उद्यम आदि वर्तमान कल्पित पुरुषार्थ सांसारिक सुख लाभ का कारण नहीं है। सांसारिक कार्यों में दैव प्रधान है और मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ प्रधान है।

2 मार्च 1965

मुक्ति का मार्ग पाना और उस पर चलना बहुत सुगम है क्योंकि वहाँ पराधीनता का काम नहीं है, स्वाधीनता से ही स्व में स्व के द्वारा ही यह पुरुषार्थ होता है। यदि कोई मोह करने की, कषाय करने की हठ न छोड़े तो यह स्वाधीन मुक्तिमार्ग भी स्वाधीन नहीं रहता, अनाधीन हो जाता है अर्थात् मुक्तिमार्ग फिर बन नहीं पाता है। मोह व कषाय का विकल्प व्यर्थ है, अनर्थकारी है। विकल्पों में, उपयोग के भरमाने में हित तो कुछ है ही नहीं, बरबादी ही है और उत्तम अवसर खो देने की मूर्खता ही है। संसरण कार्य और उसका यत्न दुर्गम ही है। मुक्ति का मार्ग पाना और उस पर चलना बहुत सुगम है।

3 मार्च 1965

कषाय का होना ही विपदा है और मोह का होना ही विडम्बना है। अपने से बाहर न कहीं विपदा है और न कहीं विडम्बना है। शांति चाहते हो तो अपने मन को समझाओ। बाहर में किसी अन्य पर किसी रूप प्रवृत्ति करने का आग्रह ही करके शांति चाहोगे तो यह उपाय मूल से गलत है, इस विपरीत यत्न में तुम शांति पा ही न सकोगे। अपनी और परजीवों की व परपदार्थों की, सबकी स्वतन्त्रता का ज्ञान करके अपने आप में विश्राम करो, पर के विषय में कल्पना ही मत बनाओ। कषाय का होना ही विपदा है और मोह का होना ही विडम्बना है।

4 मार्च 1965

आनन्द चाहते हो तो निज सहज ज्ञानस्वरूप की उपासना करो। अपने आपका जिसे यथार्थ परिचय है, वह मृत्यु से भय नहीं करता और न किसी सम्बन्धित जीव के मरण पर आश्चर्य व आकस्मिक भय करता है। यहाँ तो सब माया ही माया है। माया के मायारूप बिगाड़ में माया का क्या बिगाड़? अपने परमार्थ सहजस्वरूप की उपासना न होने से अपना बिगाड़ है। आनन्द चाहते हो तो निज सहज ज्ञानस्वरूप की उपासना करो।

5 मार्च 1965

स्वरसतः ज्ञानानन्दघन यह आत्मा है। इसमें तृष्णा का यह कलंक कैसे लग गया है? इस कलंक के कारण यह आत्मा कैसा दुःखी हो रहा है? किसी भी परद्रव्य से कुछ भी तो सम्बन्ध है नहीं, किन्तु यह उपयोग पर की ओर कैसा खिंचाखिंचा फिरता है? इस दुर्बुद्धि में परतन्त्रता, क्लेश, संक्लेश सब कुछ सह रहा है यह मूढ़। इन सब आपत्तियों के दूर होने का तनिकसाउपाय है- निज को निज, पर को पर जाना। इतना भी सुगम स्वाधीन उपाय न किया जा सके तो फिर चुपचाप सब क्लेश सहे जा, संसार में रुले जा, किसी से व्यर्थ फरियाद मत कर। यदि सम्यक् परिज्ञान का सीधा उपाय कर ले तो फिर कुछ भी क्लेश नहीं है। स्वरसतः ज्ञानानन्दघन यह आत्मा है।

6 मार्च 1965

समस्त दुःख मेट लेना तेरी ही कला की लीला है। कोई मोही किसी दूसरे मोही से अपना दुःख मिटाने की प्रार्थना, याचना, सलाह आदि करे तो वहाँ यह कहावत सिद्ध होती है कि अन्धे के आगे रोये, और अपने नैना खोये। कुछ भी दुःख आ पड़े, उसका दूरीकरण अपने विवेकबल से ही सम्भव है। वस्तु का यथार्थस्वरूप जानना और उस ज्ञात वस्तु स्वातन्त्र्य के उपयोग द्वारा पर से उपेक्षा करना एवं स्वात्मा में विश्राम लेना यह ही दुःख मेटने का अमोघ उपाय है। समस्त दुःख मेट लेना तेरी ही कला की लीला है।

7 मार्च 1965

आनन्द के लिए अपनी निर्मलता का प्रसाद प्राप्त कर। आत्मा के गुणों की विशुद्धि के अनुपात से आनन्द का अभ्युदय होता है। कलुषित परिणाम में आनन्द की गन्ध भी नहीं रहती। विषयसुखों

के कलुषित परिणाम के क्षण में कल्पित सुख के रूप में आकुलता का भोग ही होता है। आनन्द चाहते हो तो सम्यग्परिज्ञान करके उदारता, सरलता, क्षमा, आत्मभावना आदिक पुरुषार्थ से आत्मतृप्ति करो। अपने आपका भावश्राद्ध करो। निर्वाणप्राप्त पुराण पुरुषों का श्राद्ध करो। परमविकसित पुराण पुरुषों के गुण स्मरणरूप जल का उपयोग मुख से आचमन करके आत्मतर्पण करो। स्वोपयोग से, परमात्मत्वोपयोग से आत्मनिर्मलता प्राप्त करो। आनन्द के लिए अपनी निर्मलता का प्रसाद प्राप्त करा।

8 मार्च 1965

विषयों में जो अन्धा है, वही वास्तविक अन्धा है। इन्द्रियों के विषयों के साधनभूत विषय अचेतन हैं, किन्तु मन के विषय के साधनभूत विषय संसारी चेतन हैं। स्पर्शनइन्द्रिय की तृप्ति, शीत, उष्ण आदिक पदार्थों के उपभोग से होती है, कामवासना की पूर्ति परशरीर के माने मनोज्ञस्पर्शवान पदार्थ के सम्भोग से होती है, रसना इन्द्रिय की तृप्ति खट्टे-मीठे आदि रसवान पदार्थों के उपभोग से होती है, घ्राणेन्द्रिय की तृप्ति गन्धवान् पदार्थों के उपभोग से होती है, नेत्रेन्द्रिय की तृप्ति रूपपदार्थ के उपभोग से होती है, कर्णेन्द्रिय की तृप्ति शब्द के उपभोग से होती है। ये सब अचेतन विषय हैं। किन्तु मन के विषय की तृप्ति संसारी चेतनसंज्ञी जीव के अनुकूल प्रवर्तन के उपयोग से होती है। मन के विषय की अधीनता सबसे कठिन अधीनता है। जैसे तुम अपने स्वरूपगृह के राजा हो, वैसे ही सब अपने अपने स्वरूपगृह के राजा हैं, उनको अपने अनुकूल करना बहुत कठिन होता है। इन सब विषयों में जो अन्धा है वही वास्तव में अन्धा है।

9 मार्च 1965

जीवन निष्पाप व्यतीत होना चाहिए। पापकार्य वर्तमान में करते हुए चाहे सुहावने लगें, किन्तु उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है। यह पापफल न भोगना पड़े, इसका एक प्रतिशत ही कदाचित् उपाय सम्भव है, वरना तीर्थंकर चक्री जैसी महापदवी के धारक पुरुषों को भी जब किसी के पूर्वकृत पाप का उदय आए तो भोगना पड़ा है। केवल केवलज्ञान होने पर ही दृढ़ता से यह कहा जा सकता है कि अब पापफल न भोगने पड़ेंगे। कैसे भोगे जा सकते हैं? वहाँ प्रायः पापप्रकृति सत्ता में भी नहीं है, कोई है तो वह भवदोष है, उसमें कथनमात्र का अनुभाग है। यहाँ तो अपनी बात सोचो कि जीवन निष्पाप व्यतीत होना चाहिए।

पापकार्यों से मन को हटाओ। यही एकमात्र निर्णय है- पापकार्य करके सुख की आशा करना विषपान करके जीने की इच्छा करने की तरह है। कदाचित् कोई विषपान करके भी न मरे यह सम्भव है, किन्तु यह कभी सम्भव नहीं है कि कोई पापकार्य करके भी सुखी हो जाए। इस प्रकार एक ही चित्त बनाओ। पापकार्यों से मन को हटाओ।

10 मार्च 1965

मैं ज्ञानमात्र हूँ। मैं अपनी गति से स्वरूपगृह को लांघकर बाहर तफरीह करने चला तो सब कुछ ऐसा लगता रहा कि मैं मनुष्य हूँ, पशु हूँ, पक्षी हूँ, देव हूँ, नारक हूँ, इत्यादि; किन्तु जब किसी एक बात पर टिक नहीं सका और ठोकरें खाता रहा तो कुछ सद्बुद्धि होते ही सोचने लगा कि मैं वास्तव में क्या हूँ? सोचने में इतना एकाग्र हो गया कि परपदार्थों का स्मरण ही टूट गया, तब कुछ तो अपने चिन्तन से अपना बल प्रकट हुआ और कुछ पर की उपेक्षा से अपना बल प्रकट हुआ, फिर इन दोनों बलों से यह एक तो महान् ज्ञानमात्र अनुभव का बल मिला, उस आत्मानुभव से यह दृढ़ निर्णय हुआ कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं किसी परभावरूप भी नहीं हूँ। मैं ज्ञानमात्र हूँ।

छूटने को तृप्ति कहते हैं, ग्रहण करने को तृप्ति नहीं कहते हैं। भोजन कर चुकने पर तृप्ति हुई है, इसका कारण यह है कि अब गुंजाइश भी नहीं है कि कुछ भोजन ग्रहण में आ जाए। लो भोजन छूटने का नाम तृप्ति है, ग्रहण करने का नाम तृप्ति नहीं। देखो तुम्हें क्या चाहिए, जो चाहिए वह मिल जाए तो फिर भी तृप्ति नहीं हो तो उसका भाव यह है कि तुम पहिली मांग पर टिक नहीं सके। कुछ और ग्रहण करने की वाञ्छा हो गई, कोई ऐसी चीज मिल जाए जिससे बढ़कर और कुछ यहाँ न हो तो वहाँ उस सबको त्यागकर अलग होना ही पड़ेगा। भरत चक्री पर विजय पाकर बाहुबलि को सब कुछ छोड़ना ही पड़ा था, क्योंकि वहाँ तृप्ति हो चुकी थी। छूटने को तृप्ति कहते हैं, ग्रहण करने को तृप्ति नहीं कहते हैं।

11 मार्च 1965

किसी को ग्रहण करते ही उसके छूटने का प्रोग्राम बन जाता है। अतः किसी को ग्रहण करने में हर्ष मत मानो, संयोग में हर्ष मानोगे तो वियोग में कई गुणा दुःखी होना पड़ेगा। देखा स्त्री का पाणिग्रहण करते ही स्त्री के छूटने का प्रोग्राम बन जाता है, वैभव को ग्रहण करते ही वैभव के छूटने

का प्रोग्राम बन जाता है, यश के अर्जन करते ही यश के छूटने का प्रोग्राम बन जाता है, भोजन ग्रहण करते ही भोजन के छूटने का प्रोग्राम बन जाता है, घर का संयोग करते ही घर के छूटने का प्रोग्राम बन जाता है, देह को ग्रहण करते ही देह के छूटने का प्रोग्राम बन जाता है। सारांश यह है कि किसी को ग्रहण करते ही उसके छूटने का प्रोग्राम बन जाता है। अतः किसी को ग्रहण करने में हर्ष मत मानो, संयोग में हर्ष मानोगे तो वियोग में कई गुणा दुःखी होना पड़ेगा।

12 मार्च 1965

शान्ति का स्रोत स्वयं है, स्वयं से ही शान्ति का उदय होता है। अहा ! कैसा विचित्र है यह शान्ति का स्रोत? पानी का स्रोत तो स्थल है, वहाँ से पानी का उदय होने पर वह पानी दूर हो जाता है, किन्तु यह शान्ति का स्रोतभूत आत्मा तो शान्ति का उदय करके सदा शान्त रहता है, शान्ति इससे बिछुड़ती नहीं है। अथवा जैसे पानी के स्रोत से उदित होकर विशिष्ट पानी दूर हो जाता है, फिर भी सदा पानीमय वह स्रोत रहता है- ऐसे शान्ति के स्रोतभूत इस आत्मा से उदित होकर वह शान्तिपरिणमन विलीन हो जाता है, फिर भी सदा शान्तिमय यह आत्मा रहता है। शान्ति का स्रोत स्वयं है, स्वयं से ही शान्ति का उदय होता है।

13 मार्च 1965

न चाहने की चाह करो, चाह से अन्तर्दाह ही मिलती है। बचपन में क्या चाहा? वहाँ भी चाह की दाह में झुलसते रहे, रोते रहे, बहकते रहे। जवानी में क्या चाहा? उस समय की चाहें तो बड़ी कलुषित रहती हैं- धन चाहा तो उसमें दूसरों पर अन्याय ही ढाया, विषय चाहा तो उसमें अन्य का अपमान करते रहते हुए भी लाज न आई, यश चाहा तो अनेक मायाचारों का शिकार होना पड़ा। वृद्धावस्था की चाहें झकझोरी, झकमारी व क्लीव हो जाती हैं, उस समय की चाहों का अन्तर्दाह बड़ा विकट होता है। चाह में कब आनन्द मिला है? अतीत की घटनाओं का स्मरण कर लो। चाहने की चाह न करो, चाह से अन्तर्दाह ही मिलती है।

14 मार्च 1965

क्लेश केवल कल्पना का है। कल्पना में निश्चय किया जाता है कि इतना धन हो जायेगा तब क्लेश का कभी अवसर ही न रहेगा, किन्तु उतना धन हो जाने पर कल्पना विश्राम नहीं ले पाती, क्योंकि कल्पना में बस-बसकर तो यह स्थिति पाई। क्या अब कल्पना अपने श्रृंगार से ही मरना चाहेगी? अब कुछ और कल्पना जगने लगती है। इसी प्रकार कल्पना में जो भी चाहा जाता है, उसकी पूर्ति होने पर अन्य-अन्य कल्पनायें होने लगती हैं और उन सब स्थितियों में कल्पना के कारण क्लेश भोगना पड़ता है। सर्वत्र क्लेश किसका है? क्लेश केवल कल्पना का है।

हित तो ज्ञानमात्र अनुभव में ही मिलेगा। मन की वासना से प्रेरित होकर कुछ भी स्थिति बनाने के लिए तुल जाँ, वह क्षणिक कल्पना का मौज है। ऐसी कोई भी स्थिति हित नहीं है, जिसमें ऊब आने लगे। परपदार्थ का आलम्बन लेकर जो भी विकल्प बने वह स्थायी नहीं है और इसलिए तृप्तिकर नहीं है, इस कारण पराश्रित भाव में ऊब आना प्राकृतिक है। ज्ञानमात्र भाव के अतिरिक्त अन्य समस्त भाव हितरूप नहीं हैं। हित तो ज्ञानमात्र अनुभव में मिलेगा।

15 मार्च 1965

सहजानन्द जगाओ। अभिलाषा आनन्द पाने की रहती है, यह तो अच्छी बात है, किन्तु आनन्द का निर्वाचन गलत हो जाएगा तो तत्काल भी भ्रम से सुहावना लगने वाला क्लेश पाओगे और भविष्य में तो असुहावना ही क्लेश पाओगे। आनन्द तो चाहो, किन्तु असत्य आनन्द के यत्न में मत रहो, शुद्ध स्वाधीन सहज आनन्द के उपाय में लगे। सत्य सनातन सहज ज्ञायकस्वरूप का आश्रय करके सकल क्लेश दूर करो और सहज आनन्द जगाओ।

16 मार्च 1965

यहाँ किससे प्रीति लगाते हो? यहाँ जो कुछ दृष्ट है, प्राप्त है, वह विनश्वर है। विनश्वर का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए दिल बनाकर दुःखी रहोगे। इससे यह निर्णय करो कि प्राप्त समागम प्रीति के योग्य नहीं हैं। यहाँ जो कुछ दृष्ट है, प्राप्त है, वह तेरे से अत्यन्त भिन्न है। भिन्न वस्तु पर तेरा अधिकार नहीं है, तू चाहेगा कि पर का परिणमन इस प्रकार हो, परन्तु पर परिणमेगा अपने उपादानादि विधि के अनुकूल, तब मन चाहा न होने से तू क्लेश व संक्लेश ही भोगेगा। इससे

यह निर्णय करो यह प्राप्त समागम प्रीति के योग्य नहीं है। प्रीति के अयोग्य से प्रीति करने में विपत्ति ही पाओगे। यहाँ किससे प्रीति लगाते हो?

17 मार्च 1965

आत्म-स्पर्श में सर्वकल्याण है। आत्मा को उपयोग तजकर किसी भी विषय में चित्त लगाओ, आखिर वहाँ खेद-खिन्न होना पड़ता है। संसार का गोरखधन्धा इतना ही तो है कि गलत काम में तुरन्त खेद-खिन्नता का अनुभव नहीं हो पाता। उस काल में तो यह मौज मानता है, पश्चात् इसे खेद-खिन्नता भोगनी पड़ती है। यदि पापकर्म में तत्काल खेद-खिन्नता अनुभव में आने लगे तो जीव को पाप से वैराग्य रहेगा। फिर गोरखधन्धा ही क्या रहेगा? बाहर में किसी भी विषय में चित्त लगाओ तो इस गोरखधन्धा का शिकार होना पड़ेगा। भोगों में, विषय में, हित की, सुख की खोज मत कर। विशुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का ही उपयोग करके आत्मस्पर्श कर। आत्मस्पर्श में सर्वकल्याण है।

18 मार्च 1965

विषयों की वाञ्छा ही वास्तव में पराधीनता है। पराधीनता में कभी सुख याने आनन्द हो ही नहीं सकता। इस पराधीनता से उत्पन्न हुआ क्लेश किसी पर की करुणा से, आशा से नहीं मिट सकता। विषयों की वाञ्छा का परित्याग कर दो, सब क्लेश अभी मिट जाएगा। जब कभी तुम्हें क्लेश हो तो यह खोज करो कि हमारे किसी विषय-सम्बन्धी वाञ्छा है क्या? यदि क्लेश है तो नियम से किसी विषय की वाञ्छा निश्चित समझिए। या तो किसी इन्द्रिय के विषय की वाञ्छा होगी या फिर मन के विषय की वाञ्छा होगी। ऐसी स्थिति में अपना ज्ञानबल प्रकट करो, इससे विषयों की वाञ्छा मिटेगी। विषयवाञ्छा मिटने से पराधीनता समाप्त हो जाएगी, पराधीनता मिटने से समस्त क्लेश दूर हो जाएगा। पराधीनता में ही क्लेश है और विषयों की वाञ्छा ही वास्तव में पराधीनता है।

19 मार्च 1965

अपने आत्मदेव के निकट बसो। देखो भिन्न वस्तुओं के निकट पहुँचने से आकुलता का ही फल मिलेगा। आकुलता से अलग रहना हो तो आकुलता के आश्रयों का परिहार करो, भिन्न वस्तुओं को अपने उपयोग में स्थान मत दो। अपने आत्मदेव के निकट बसो।

20 मार्च 1965

अविकार चित्स्वभाव का आदर करो। अन्य भाव के आदर में सन्तोष नहीं होगा। अब तक किया भी तो यही है, अन्य भावों का ही आदर; मिला क्या? सो भी तो सोचो। व्याकुलता, भवभ्रमण, परवशता व बन्धन मिला। अब कुछ भी परिस्थिति हो, परिस्थिति यह आत्मा की स्वभावस्वरूप नहीं है, इसका आदर मत करो। यदि अविकारी, निराकुल होना हो तो अविकार चित्स्वभाव का आदर करो।

21 मार्च 1965

अपना विवेक बनाए रहो, अन्यथा बड़ा कष्ट पाओगे। लोक में किसी का कोई सहायक नहीं है। जो कुछ लोग तुम्हारी पूछ करते हैं, सेवा करते हैं, वह सब तुम्हारे विवेक और सदाचार के कारण हो रहा है। कहीं तुमने कुछ पट्टा नहीं लिखा रखा है कि हम कैसे ही हों, कैसे ही चलें, पर लोगों का काम हमारी पूछ और सेवा करना है? ऐसा पट्टा तो प्रभु का भी लिखा हुआ नहीं होता। प्रभु वीतराग, निर्दोष, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी व अनन्तानन्दमय है। यह प्रभुस्वरूप जिन्हें रुचता है, वे भक्त अपने विकास में प्रभु की भक्ति करते हैं। प्रभु भी शाश्वत, अविचल, निर्दोष, पूर्णबद्ध, पूर्ण विकारी रहते हैं, इसी कारण भक्तों का आकर्षण है। तुम पुण्य के ठाठ पर गर्व मत करो, अपने-गुणों के शुद्ध विकास का लक्ष्य बनाओ। अपना विवेक बनाए रखो, अन्यथा बड़ा कष्ट पाओगे।

22 मार्च 1965

अविकारवृत्ति का ही यत्न करो। तुम आनन्द चाहते हो ना? विषयविकार किया और विषयों के उपयोग में श्रम किया, लिया-दिया-सा यत्न किया, उसके फल में आनन्द की सम्भावना भी क्या? चिन्ताओं का शिकार और बनना पड़ता है। कुछ इस ओर ध्यान दो अब- सोचो यदि विकारभाव ही न रहेगा फिर तो कष्ट पूर्णतया समाप्त है। आनन्द के लिए पराश्रित यत्न मत करो।

23 मार्च 1965

निजस्वरूप निज की समृद्धि के लिए ही होता है। पर का सम्बन्ध, पर का निमित्त निज में दोषाधान का कारण ही है, गुण-समृद्धि का कारण नहीं होता। पर का तो आत्मीयकरण भी नहीं होता, मात्र उपयोग की वृत्ति ऐसी बहिर्मुख बनाई जाती है कि जिससे अपने आधार की तो यह उपयोग सुध भी नहीं लेता है और आश्रयभूतों की ओर आकर्षण बनाता है। इस बहिर्मुखीवृत्ति से व पर के सम्बन्ध से क्लेश ही व्यक्त होता है। निजस्वरूप की सुध लो। निजस्वरूप निज की समृद्धि के लिए ही होता है।

24 मार्च 1965

निराले को निराला ही रहने दो। निराला तो निराला ही रहा आया है और निराला ही रहेगा, मात्र यह मोही मोहवश अपने को निराला न समझ सका। निराला न माने जाने पर भी यह निराला ही रहा आया है। हाँ निराला न माने जाने के बड़े अन्याय का प्रभाव इतना-भर ही इस पर पड़ा कि यह अपनी कल्पनाओं से अपने में ही तरंगित होता रहा, पर में तो तब भी यह कुछ न कर सका। अरे प्रियतम ! तू निराला तो रहता ही है, जरा ऐसा ही निराला अपने को मान ले। देख, तूने निराले को निराला ही रहने दिया तो तू निराकुल हो जाएगा। निराले को निराला ही रहने दे।

25 मार्च 1965

विषयों के विजय में ही सर्वविजय है। दूसरे को जीतने की आशा व दूसरे के अधीन रहने की वृत्ति विषयेच्छा के बिना नहीं होती। सारी विडम्बनाएँ पाँच इन्द्रियों के विषयों के वश में होने से व मन के विषय के वश में होने से होती हैं। जो विषयों पर विजय पा लेता है, उसको किसी से भी हारे हुए का अनुभव नहीं होता है। अन्य पदार्थों की विजय अस्थिर विजय है और विजय में भी पराजय गर्भित है। विषयों के विजय में ही सर्वविजय है।

26 मार्च 1965

अपनी प्रभुता निरखा। विषय की इच्छा करना ही कायरता है। कायरता से कायरता की परम्परा बढ़ती चली जाती है। अपनी स्वतन्त्रता का भान कर, इस उपाय से कायरता दूर होगी। कायरता से क्लेश, बन्धन, संसरण आदि सभी अहित होते हैं। निज शुद्ध ज्ञानस्वरूप का आश्रय करके कायरता का विनाश कर और अपनी प्रभुता निरखा।

27 मार्च 1965

विषयाभिलाष ही आत्मा का वास्तविक वैरी है। यह आनन्दघन ज्ञानमहिम आत्मा तो स्वयं समृद्धि सम्पन्न है। यह तो परिपूर्ण है, इसको किसी अन्य की आवश्यकता ही नहीं है। विषयों में विषयभूत पुद्गल पदार्थ मुझसे त्रिकाल भिन्न है। पुद्गल का मेरे स्वरूप पर अधिकार ही नहीं है, वह न तो मित्र हो सकता है और न शत्रु हो सकता है। जिसका मेरे स्वक्षेत्र में प्रवेश नहीं है, वह मेरा शत्रु कैसे हो सकता है? कर्म उपाधि को उदय का निमित्त पाकर और विषयभूत रूपादिमान् पुद्गलस्कन्धों का आश्रय पाकर उत्पन्न विषयाभिलाष ही आत्मा का वास्तविक वैरी है।

28 मार्च 1965

प्रभुता पाई जा सकती है। निर्दोषता का नाम ही प्रभुता है। प्रभुता का अर्थ यह नहीं है कि परजीवों पर अपना प्रभुत्व जमायें। प्रभुता का अर्थ है निर्दोषता, आनन्दमयता व सकलज्ञाता की स्थिति पा लेना। जब यहाँ ही यह देखा जा रहा है कि कोई कम निर्दोष है, कोई अधिक निर्दोष है, कोई निर्दोष है, कोई कम आनन्द वाला है, कोई अधिक आनन्द वाला है, कोई कम ज्ञाता है, कोई अधिक ज्ञाता है, तब यह पूर्ण सम्भव है कि हम शुद्ध स्वभाव का आलम्बन लें तो पूर्णनिर्दोषता, पूर्णआनन्द, ममता व सकलज्ञाता की स्थिति पा सकते हैं। इसी शुद्ध स्थिति का नाम प्रभुता है। प्रभुता पाई जा सकती है।

29 मार्च 1965

सब जीवों में शुद्ध चित्स्वरूप देखो। चित्स्वरूप तो सब जीवों में मौलिक स्थिर तत्त्व है। दृश्यमान यह सब औपाधिक मायामयरूप है। तुम्हारी वर्तमान प्रकृति जीवों के मायारूप को निरखने की है तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हारे रुचि माया की है। यदि तुम्हारी वर्तमान प्रकृति जीवों के

मूलतत्त्व चित्स्वरूप को निहारने की है तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हारे रुचि चित्स्वरूप की है। माया के आलम्बन में हस्तगत कुछ न होगा, इसका फल शून्य ही रहेगा। चित्स्वरूप के अवलम्बन में ज्ञान का और आनन्द का विकास होगा। अपने शुद्ध चित्स्वरूप का दर्शन करो और बाहर में अन्य जीवों को देखो तो उन सब जीवों में शुद्ध चित्स्वरूप देखो।

30 मार्च 1965

सम्मान में हर्ष मानना विपत्तियों को निमन्त्रण देना है। राग अवस्था में सम्मान के साथ अपमान जुड़ा हुआ है। सम्मान के वातावरण में जो स्थिति होती है, वह तो उतने थोड़े काल के लिए है, फिर तो रहती नहीं है। अब जो उस अल्पकाल में हर्षमग्न हुआ है, उसे बाद की स्थितियाँ तो फीकी लगेगी और यदि मन के विशेष प्रतिकूल कोई घटना घट जाए तो विह्वलता का कुछ ठिकाना भी नहीं है। सच बात तो यह है कि सम्मान में हर्ष मानना स्वयं मीठी विपत्ति है। बिरादरी के लोग भी तो अक्सर काज के समय अपनी बिरादरी के झगड़ालू लोगों को निमन्त्रण देने का विशेष ख्याल रखते हैं। सम्मान में हर्ष मानना विपत्तियों को निमन्त्रण देना है।

31 मार्च 1965

कषाय की कुटेव दुःख का ही कारण है। अपना अपमान भी होता हो तो उसको विशेष महसूस मत करो, दूसरों का सम्मान ही रखने का अपना परिणाम व प्रयत्न करो। संसार में रुलते-फिरते भटकने का इतना बड़ा अपमान सरासर भोग रहे हो, उसका तो खेद नहीं करते और लोक व्यवहार में जहाँ कि तेरा अपमान भी कोई नहीं कर सकता, केवल कल्पना बनाते हो और दुःखी होते हो, उसका ताड़ बना रखा है। यदि अपना हित चाहते हो तो अपने अपमान को अपमान ही मत मानो। एक ही निर्णय रखा- मुझे तो सबका सम्मान ही रखना उचित है। किसी के द्वारा पीड़ित या अपमानित होने पर भी उसके प्रति रोष मत करो। इससे तुम ही कष्ट पाओगे और कुछ फल न होगा। कषाय की कुटेव दुःख का ही कारण है।

1 अप्रैल 1965

अपने स्वभाव को देखो। बाहर झूठी दौड़ क्यों लगा रहे हो? शान्ति का धाम तो अपना आपा है। अनन्त तजोमय ज्ञानानन्दघन अपने घर में नहीं रहा जाता है और भिन्न अनधिकृत पर घर में रहने का शौक कर रहा है। तुम्हें अपनी भूल पर शरम भी नहीं आती। परप्रीति की कुटेव को छोड़। देखो, निज सहज अन्तस्तत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान व आचरण में सकल समृद्धि है, विशुद्ध आनन्द है। लोक में अब तक अनन्ते भव पाये और उन सब भवों में परपदार्थों से प्रीति की और अन्त में खाली हाथ उन सब समागमों को छोड़कर भटकते ही फिरे। एक इस भव को निज अन्तस्तत्त्व की रुचि में ही लगा दो। यदि ऐसा कर सके तो सदा शाश्वत सहज आनन्द भोगते रहोगे। इस अनुपम लाभ के अर्थ अपने स्वभाव को देखो।

2 अप्रैल 1965

सबका सम्मान रखो। स्वप्नसम सांसारिक ऐश्वर्य पाकर गर्विले ही रहे और दूसरे जीवों का महत्त्व न आँक सके, सम्मान न कर सके तो इसका अर्थ यह है कि तुमने अपने सहज चैतन्यस्वरूप आत्मप्रभु का अपमान किया है। इस अपमान के फल में कुयोनियों में जन्म लेकर संक्लेश, क्लेश सहते रहना पड़ेगा। पर का असम्मान करने से पर के द्वारा भी इस लोक में विपत्तियों में फँसना पड़ेगा। इस ही भव में क्या, भव-भव में भी अपमानित पर जीव के प्रसंग में विपदायें भोगनी पड़ेगी। सबका सम्मान रखने में अपने आत्मप्रभु के भी सम्मान करने के पात्र रह सकोगे, पर के द्वारा विपदायें पाने की शंका से दूर रह लोगे, परभव की कुयोनियों की यातनाओं से भी परे हो जावोगे। यों सबके सम्मान में धर्मलाभ, इहलोकलाभ, परलोकलाभ होंगे। हे आत्मन् ! अब तो अपने आप पर करुणा करो। सबका सम्मान रखो।

3 अप्रैल 1965

चिच्चमत्कारमात्र निज चिन्तामणि पाकर चिन्ता कुछ मत करो। अपने आपका यथार्थस्वरूप तो देखो, इसमें चिन्ता का अवसर कहाँ है? तुम तो ज्ञानमय पदार्थ हो, इसमें विडम्बना है कहाँ? जानना भी क्या विपत्ति के लिए होता है? परपदार्थों में कुछ बीतती है तो वह उनके स्वरूप की बात है। उस परिणमन से उनका तो कुछ बुरा नहीं होता है। तुम यहाँ कुछ चिन्ता करने लगते, कुछ लाज भी नहीं आती अनहोनी-कुटेव खोटी-कुटेव करने में। तुम कहीं भी दुःखी नहीं हो, अपने स्वरूप की ओर दृष्टिपात करो। चिच्चमत्कारमात्र निज चिन्तामणि पाकर चिन्ता कुछ मत करो।

4 अप्रैल 1965

अपने आनन्दस्वरूप को निरखकर आनन्द से रहो। तुम्हें आनन्द ही तो चाहिए कि कंकड, पत्थर? कंकड, पत्थर चाहते हो याने हीरा, सुवर्ण आदि चाहते हो तो कंकड, पत्थरों में पड़ो। यदि आनन्द चाहते हो तो सुनो- आनन्द तो निराकुलता का नाम है। निराकुलता का अर्थ है जहाँ आकुलता बिल्कुल भी नहीं है। आकुलता किसी न किसी परपदार्थ को ख्याल में लेने से होती है। किसी परपदार्थ को ख्याल में ही न लाओ। क्या अटकी है परपदार्थों के विकल्पों में उलझने से? तेरा स्वरूप अधूरा नहीं है, तू परिपूर्ण है, सदा सुरक्षित है, अविनाशी है, आनन्दमय है। अपने आनन्दस्वरूप को निरख कर आनन्द से रहो।

5 अप्रैल 1965

तुम तो क्षमास्वरूप ही रहो। तुम्हारा स्वरूपदुर्ग अभेद्य है। कोई पुरुष तुम्हारे प्रति असद् वचनव्यवहार क्रियाव्यवहार करे तो उसने खुद का अपना विभावपरिणमन किया, उसका तुम पर असर हो ही नहीं सकता, क्योंकि तुम्हारा स्वरूपदुर्ग अभेद्य है। इस तथ्य को ज्ञान में न लगे तो तुम अपने ही भ्रमण के असर से पीड़ित होकर दुःखी होओगे। तुम तो सदा अपने आपमें ही रहा करते हो, परजीव समस्त वे अपने आपमें ही रहा करते हैं। वस्तु के सत्त्व के ही कारण यह सहज नियत व्यवस्था है। सभी जीव अपराध कर सकते हैं तो वे अपना अपना ही अपराध कर सकते हैं। कोई दूसरा जीव तुम्हारा अपराध नहीं कर सकता। बाह्य में कहीं कुछ प्रसंग हुआ करे, उससे तुम्हारा क्या वास्ता? तुम तो क्षमास्वरूप ही रहो।

6 अप्रैल 1965

पर की तृष्णा तजो और सुखी होओ। परवस्तु त्रिकाल अनधिकृत है। अनधिकृत वस्तु पर अधिकार जमाने का संकल्प अर्थक्रियाकारी नहीं होता और फिर तुम स्वयं आनन्दस्वरूप हो। क्या अटकी है पर को अधिकृत करने की? किसी दूसरे ने श्रीमान् कह दिया, इतनी भर बात के लिए

क्या दिन-रात विकल्प, अज्ञान व परिश्रम किया करते हो? किसी ने कुछ कह भी दिया तो तुममें क्या आ गया? तुम्हारा मार्ग अलग है, सबका मार्ग अलग है। कुछ दिन जीकर तुम कहीं जावोगे, ये सब कहीं जायेंगे। जब तक अनुकूल समागम है, तब तक भी पर से कुछ मुझमें आता नहीं है। अपने आपके स्वतः सिद्ध परिपूर्ण ज्ञानानन्दघनस्वरूप को देखो। पर की तृष्णा तजो और सुखी होओ।

7 अप्रैल 1965

कुछ बता भी नहीं सकते और दुःखी हो रहे हैं। क्या कष्ट है तुम्हें, कुछ साफ-साफ तो बताओ? कष्ट है यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ, अनेक बातें तो अगल-बगल की करोगे। पर साफ-साफ क्यों नहीं स्पष्ट आगे धरकर बताते कि यह कष्ट है। मालूम होता है कि कष्ट कुछ है ही नहीं, केवल रीति-रिवाज व देखादेखी कष्टमय अनुभवने का शौक कर रहे हो। बच्चे भी तो बूढ़ों के खाँसने, घसिटने, कूल्हने आदि चेष्टाओं की नकल करके अपना शौक पूरा किया करते हैं। देखो कष्ट अनुभवने का शौक मत बनाओ। इस शौक के कारण तुम जन्म-मरण के क्लेश पाते रहोगे। अपने से अपना वास्ता रखो। क्यों व्यर्थ भ्रमजाल से अपने को ढक रहे हो, क्यों अजीब सी हालत कर ली है तुमने अपनी, कि कुछ बता भी नहीं सकते हो और दुःखी हो रहे हो?

8 अप्रैल 1965

दूरदर्शी बनो और आत्मदर्शी बनो। दूर की बात तो अनन्तकाल की सोचो और पास की बात खुद की ही सोचो। दूर की बात तो यों देखो कि ऐसा पुरुषार्थ लेना चाहिए कि जिससे निकट भविष्य में तो क्या, अनन्तकाल तक भी क्लेश न आवे। निकट की बात यों सोचो कि यह मैं तो स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, मुझमें कुछ रीतापन है ही नहीं, जिसका भराव करने को कुछ अगल-बगल तकना पड़े, मैं स्वयं आनन्दस्वरूप हूँ। निकट और दूर के बीच के काल की चिन्ता करना ही बरबादी का लक्षण है। दूर की देखो तो अतिदूर की देखो, निकट को देखो तो अतिनिकट की देखो। यों दूरदर्शी बनो और आत्मदर्शी बनो।

9 अप्रैल 1965

बाहरी मोह की मोहिनी धूल। जो प्रियतम है उसके प्यार की तो दृष्टि नहीं है और जो अहिततम है उसके प्यार के लिए खूँटा तोड़कर भाग रहे हो। जिसके आदि में, मध्य में व अन्त में क्लेश ही क्लेश है, उसके लिए तो अहर्निश परिश्रम कर रहे हो और जिसके विचार में, पुरुषार्थ व परिणाम में शान्ति ही शान्ति है और उसका पुरुषार्थ भी सुगम स्वाधीन है, उसकी रुचि भी नहीं करते हो। यह सब क्या हो रहा है? उल्टी और विचित्र ही विचित्र विस्मय की बात हो रही है। कैसी भूलमोहिनी-धूल तुझ पर पड़ी है। बाहरी भूल की मोहिनी-धूल।

10 अप्रैल 1965

निरपेक्षता ही वास्तविक आनन्द है। जहाँ उपयोग को पर की अपेक्षा हुई है, वहाँ इस बहिर्दृष्टि की प्रेरणा से आकुलता होती ही है। इसका कारण यह भी है कि परपदार्थ भिन्न और फिर उसका परिणमन विनश्वर है। विनश्वर और भिन्न पदार्थ पर उपयोग करने से चूँकि अभीष्ट न होकर भी उसका आश्रय छूट ही जाता है, अतः उपयोग को खेदखिन्न होना पड़ता है। उपयोग निज का ही आश्रय करे और निज में भी शाश्वत् चित्स्वभाव का आश्रय करे तो चूँकि यहाँ किसी पर की अपेक्षा नहीं रहती और आश्रयभूत निज अन्तस्तत्त्व भी शाश्वत् है, अतः उपयोग की स्थिरता, गम्भीरता व निरपेक्षता होती है। यहाँ खेद का तो काम ही नहीं है, प्रत्युत सहजआनन्द प्रकट होता है। निरपेक्षता ही वास्तविक आनन्द है।

11 अप्रैल 1965

अपने में क्षमा की प्रकृति बनाओ। जगत् में सभी जीव अपने-अपने विषयानुभव के लिए, मानसिक सुख के लिए प्रयत्न किया करते हैं। कोई भी जीव मूलतः आपको दुःखी करने के लिए प्रयत्न नहीं करता है। अतः तुम यह अपनी कल्पना मत बनाओ कि इस जीव ने मुझे क्लेश पहुँचाया है। उसने तुम्हें क्लेश नहीं पहुँचाया है, तुम ही अज्ञानभरी कल्पना करके अपने आपको दुःखी कर रहे हो और इस दुःख से पीड़ित हो क्रोध करके बेहोश हो रहे हो। देखो विपरीत कल्पना मत करो, व्यर्थ दुःखी मत होओ, व्यर्थ क्रोध की ज्वाला में मत भुन जाओ, कुछ विवेक करो और अपने में क्षमा की प्रकृति बनाओ।

12 अप्रैल 1965

करने के भाव के अभाव में शांति है। हम करने का भाव करने के अनकरीबन पश्चात् अनुकूल कार्य बनने पर जो विश्राम पाते हैं, वह विश्राम करने के भाव या कार्य का नहीं है, किन्तु उस प्रसंग को पाकर जो अब करने का भाव नहीं रहा, सो इस कर्तृत्व के भाव के अभाव की शांति है। जैसे कि किसी भोग के भोगने के भाव करने के अनकरीबन पश्चात् भोग भोगने पर जो विश्राम होता है, वह विश्राम भोगने के भाव का या भोग का नहीं है किन्तु उस प्रसंग को पाकर जो अब भोगने का भाव नहीं रहा, सो इस भोक्तृत्व के भाव के अभाव की शांति है। करने का विकल्प तो भरपूर अशान्तिमय ही है। करने के भाव के अभाव में ही शांति है।

13 अप्रैल 1965

निर्विकारस्थिति में ही वास्तविक प्रसन्नता है। विकारों से आत्मा में कायरता जगती है। विकारों में आत्मा दबा रहता है। विकार कलुष परिणाम है। इस कलुषता से तो आत्मा खिन्न और क्षुब्ध रहता है, किन्तु जब किसी के प्रति प्रीति का विकार न जगे, तब इस आत्मा को पराधीनता का अवसर न होने से स्वाधीन रहता हुआ यह प्रसन्न रहता है। निर्विकार स्थिति में ही वास्तविक प्रसन्नता है।

14 अप्रैल 1965

पर के प्रति प्रीति होना ही विपदा है। यद्यपि नीति में प्रेम को आदर दिया गया है, किन्तु वह प्रेम मात्र प्रेम ही रहे तो प्रेम करना सुनीति है, मगर वह मात्रप्रेम किसी बिरले के रह सकता है। विशुद्ध अर्थात् सिर्फ प्रेम वह कहलाता है, जहाँ कर्तव्य का तो विवेक रहे, किन्तु शल्य न रहे। जहाँ शल्य का रूप आया, वही वह मोह कहलाने लगा। परोपकार का आधार मात्र विशुद्ध प्रेम है, मोह नहीं। अब जरा और ऊँचे उठकर विचारिए- किसी भी पद्धति की प्रीति हो, उसमें आश्रय परपदार्थ का होता है। परपदार्थ का आश्रय जहाँ है, वहाँ सापेक्षता है, पराधीनता है। जहाँ पराधीनता है, वहाँ विपदा है। पर के प्रति प्रीति होना ही विपदा है।

15 अप्रैल 1965

अपने ज्ञानविकास की धुन रखो। साधु अवस्था में तो मात्र यही करना है, वहाँ तो आरम्भ व परिग्रह का प्रसंग ही नहीं है। गृहस्थावस्था है तो एक आजीविका का भी साधन जरूरी है, सो गृहस्थ को दूसरा काम आजीविका का भी लगा होता है। सो गृहस्थ आजीविका का काम करके व करते हुए ज्ञानविकास की धुन रखे। यहाँ भी मुख्य बात तो ज्ञानविकास के धुन की है और गौण बात आजीविका की है। इसके दो कारण हैं-

[1] आजीविका चिन्ता या धुन करने से नहीं बन जाती है, इसमें पूर्वार्जित पुण्यकर्म निमित्त कारण हैं।

[2] आजीविका से सदा का काम नहीं निभेगा। सदा तो आनन्द तब ही होगा, जब यह आत्मा शरीर से विमुक्त होकर केवल ज्ञानविकास रूप ही रहे।

इस कारण गृहस्थ को भी ज्ञानविकास की धुन रखना अत्यावश्यक है। हे हितार्थी आत्मन् ! अपने ज्ञानविकास की धुन रखो।

16 अप्रैल 1965

आत्ममग्न होने का लक्ष्य मत भूलो। कर्मविपाकवश यत्किञ्चित् आत्मबाह्य उपयोग करना पड़े, अन्य कुछ यत्न करना पड़े, किन्तु उसे कर्मज विकार जानकर उससे उपेक्षा ही बनाए रहो। कोई भी बाह्ययत्न तेरा हित नहीं करेंगे, बल्कि अहित और पतन की ओर ही ढकेलेंगे। इस कारण बाह्यभावों में, औपाधिक परिणामों में, बाह्यविषयक यत्नों में रुचि मत करो। जैसे शत्रु द्वारा पकड़े जाने पर शत्रु से विमुख होकर दूर भागने का यत्न किया जाता है- ऐसे ही विषयभावों द्वारा अभिगृहीत हो जाने पर विषयभावों से विमुख होकर दूर भागने का अर्थात् आत्मा में आने का यत्न करो। आत्ममग्न होने का लक्ष्य मत भूलो।

17 अप्रैल 1965

महत्त्व तो त्याग भाव में ही है। लोग यदि किसी साधु, सन्त की पूजा, विनय करते हैं तो वह त्यागभाव परिचय के कारण ही तो पूजा विनय है। जब बाह्य त्यागभाव के कारण लोक में यह महत्त्व होता है, तब वास्तविक त्यागभाव के वेदन के महत्त्व की तो सीमा भी नहीं बना सकते। अहो मोहीजीव ! मोहवश होकर कितनी उल्टी बुद्धि करते हैं कि बड़प्पन तो होता है त्यागभाव का और मोहियों ने बड़प्पन मान रखा है पौद्गलिकस्कन्धों के संचय में? प्रत्येक परसमागम में लगाव का फल आकुलता है। अपना महत्त्व, अपना आनन्द पर के लगाव में मत खोजो। महत्त्व तो त्यागभाव में ही है।

18 अप्रैल 1965

अपने को अकेला ही निरखो। जितना अपना स्वरूप है, उतने मात्र हो अपने को निरखने पर कोई संकट नहीं रहता है। इष्टवियोगज संकट तब तक ही सताता है, जब तक अपने को ज्ञानस्वरूपमात्र नहीं माना जाता है। अपने आपकी ज्ञानस्वरूप प्रतीति होने पर कुछ अन्य इष्ट ही नहीं रहता, फिर इष्टवियोगज संकट कैसे हो? ज्ञानानुभव के अतिरिक्त अन्य किसी में जब इष्ट की भी कल्पना नहीं रहती, तब अनिष्ट की भी कल्पना क्यों उठे? यों अनिष्टसंयोगज संकट भी नहीं है। जब शरीर आत्मारूप नहीं जँच रहा, तब वेदनाप्रभव भी क्या संकट होगा? बाह्यवस्तुओं की तो वाञ्छा भी नहीं जगती, निदानसंकट कहाँ से आवे? किसी भी प्रकार का संकट हो, आत्मबल का सहारा लो, संकट नहीं रहेगा। आत्मबल पाने के लिए अपने को अकेला ही निरखो।

19 अप्रैल 1965

व्यवहार न्याययुक्त रखो। जो मनुष्य किसी को सताने का यत्न करता है, जो किसी के सम्बन्ध में झूठ बोलने का परिणाम रखता है, जो परद्रव्य को हरण करने का संकल्प बनाए रहता है, जो कुशील की कल्पनायें किया करता है, जिसको धनसंचय करने की हठ रहती है, वह मनुष्य आत्मानुभव के अयोग्य है। संकटविनाश एवं विशुद्धआनन्द आत्मानुभव में ही है। यदि आत्मानुभव की उत्सुकता है तो व्यवहार अयोग्य मत करो। अन्याययुक्त जीवन में शान्ति न पा सकोगे। सत्य शान्ति पाने के लिए व्यवहार न्याययुक्त रखो।

20 अप्रैल 1965

ज्ञान की सावधानी ही सर्वोत्कृष्ट विभूति है। हे आत्मन्! तू आनन्द ही तो चाहता है। आनन्द का सत्य उपाय तो ज्ञान की सावधानी बनाये रहना है। जब यह उपयोग रागवश किसी परपदार्थ पर जाता है तो यों परपदार्थ पर उपयोग जाने से ही खुद में रीतापन का अनुभव होने लगता है और इसी कारण विह्वलता होने लगती है और जब माना हुआ वह इष्टपदार्थ विमुक्त होता है अथवा मन के अनुकूल नहीं परिणमता है, तब विशेषरूप से विह्वलता होने लगती है। देख, अनादिकाल से रुलते-रुलते अनन्तोंबार तो पर के उपयोग में रहे, अब तक कुछ मिला भी है क्या? कुछ नहीं, बल्कि खोया ही है सब कुछ याने अपने गुण का घात ही किया। अब तो बुद्धि व्यवस्थित बना। अन्य सब धारणाओं को, प्रतीतियों को तिलाञ्जलि देकर ज्ञान की सावधानी का ही महान् सुगम पुरुषार्थ कर। सहज ज्ञानस्वरूप की उपासना करना ही ज्ञान की सावधानी है। अपने चित्त में यह पूर्ण निर्णय रख कि ज्ञान की सावधानी ही सर्वोत्कृष्ट विभूति है।

21 अप्रैल 1965

परिणामों की निर्मलता में ही सत्य आनन्द है। विकारभावों की कलुषता, पराधीनता, आकुलता, अशरणाता, क्षणिकता व विषमता बसी हुई है। विकार में तो कभी आनन्द जग ही नहीं सकता। मोह, काम, क्रोध, मान, माया व लोभ- ये ही तो विकार हैं। अनादि से इन विकारों में चले आए, कुछ संतोष मिला है क्या? ये विकार असंतोष को ही बढ़ाते हैं, कभी कुछ कल्पित संतोष का भी आभास कराते हैं, किन्तु यह आभास भी तीव्र असंतोष बढ़ाने के लिए होता है। विकारभावों में न कभी शान्ति पाई और न कभी मिलेगी। शान्ति चाहते हो तो परिणामों को निर्विकार याने उज्ज्वल रखो। श्रद्धा तो पूर्णनिर्मल व उज्ज्वल होनी ही चाहिए। परिणामों की निर्मलता में ही सत्य आनन्द है।

22 अप्रैल 1965

शुद्ध वातावरण व सत्संग में निवास करो। जहाँ मोहियों की नाना चेष्टाओं से वातावरण अशुद्ध हो गया हो, वहाँ के निवास में प्रभुभक्ति को उत्साह नहीं रहता तथा चित्त व्याकुल रहता है, वह स्थान कल्याणार्थी के निवास के योग्य नहीं है। जहाँ धर्मप्रेमी महानुभावों का गमनागमन व निवास

होने से वातावरण धार्मिक हो, वह शुद्ध वातावरण है। शुद्ध वातावरण में परिणामों के शान्त व अनाकुल रहने का अवसर है। ऐसे शुद्ध वातावरण में निवास करना योग्य है। जो संसार से विरक्तचित्त है, वे सत्पुरुष हैं, उनके संग से वैराग्य और शांति का अभ्युदय होता है। अतः आत्महित चाहते हो तो शुद्ध वातावरण व सत्संग में निवास करो।

23 अप्रैल 1965

अपनी दृष्टि में अपनी वास्तविक महत्ता आँकते रहो। मैं विशुद्ध असीम ज्ञानस्वभाव वाला हूँ और परम सहजआनन्द वाला हूँ। जब यह अपना महत्त्व अपने को विदित रहेगा तो ओछे काम में प्रवृत्ति हो सकेगी क्या? यह आत्मदृष्टि की प्रवृत्ति अनेक पापों से बचा लेगी। देख, पाप का फल भोगना ही पड़ेगा। तू समर्थ है तो पाप की ओर न लगकर धर्म की ओर प्रगति कर। धर्मवृत्ति में तत्काल भी शांति है और भविष्य भी शांतिमय रहेगा। पापभावों में तो तत्काल भी आकुलता है और भविष्य भी आकुलतामय है। अपना परिणमन आनन्दमय रखना चाहते हो तो अन्याय, पाप, व्यसन आदि दुर्भावों से बचो। एतदर्थ यह आवश्यक है कि अपनी दृष्टि में अपनी वास्तविक महत्ता आँकते रहो।

24 अप्रैल 1965

आनन्द का धाम तो एक समाधिभाव ही है। समाधिभाव मोह के त्याग में ही होता है। मोह का त्याग यथार्थश्रद्धान् से होता है। यथार्थ श्रद्धान् वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से होता है। वास्तविक स्वरूप का ज्ञान भेदविज्ञान से होता है। भेदविज्ञान शास्त्राभ्यास व गुरूपदेशश्रवण आदि उपायों से, ज्ञानार्जन करने से होता है। अतः जिन्हें सत्य चाहिए, उन्हें ज्ञानार्जन करना चाहिए। इसके प्रसाद से भेदविज्ञान, वास्तविकस्वरूपज्ञान, यथार्थश्रद्धान्, मोहाभाव की परिस्थिति पाकर समाधिभाव पा लिया जाता है। समाधिभाव से समस्त संकट समाप्त होते हैं और स्वाधीन सत्य, सहज आनन्द प्रकट होता है। आनन्द का धाम तो एक समाधिभाव ही है।

25 अप्रैल 1965

हे आत्मन् ! तू अपनी सँभाल कर। दुर्लभ यह अवसर पाकर इसे प्रमाद में अर्थात् विषयकषायों में गंवा दोगे तो दुर्गति में जन्म लोगे, फिर अपनी सँभाल का यत्न भी न कर सकोगे।

देख, अपनी सँभाल के लिए कठिनाई कुछ नहीं है, अपने को अपने स्वरूपमात्र देख ले, इससे विषयकषाय की कलुषताएँ दूर हो जावेंगी, फिर अपनी सँभाल ही सँभाल है। अपनी सँभाल में अपना कल्याण है, आनन्द है। हे आत्मन् ! तू अपनी सँभाल कर।

26 अप्रैल 1965

आत्मा की उत्कृष्टता निर्विकार रहने में है। मनुष्यभव में रहकर भी जिनका निर्विकार परिणमन रहता है, वे धन्य हैं। निर्विकार जीवन होने की महिमा अपार है। विकारी जीवन आकुलतामय है, कलुषित है, इसका फल संसार में भटकना है। निर्विकार जीवन शांतिमय है, पवित्र है, इसका फल सर्वसंकटों से मुक्त होकर सहजआनन्द का अनुभव करते रहना है। यही परिस्थिति आत्मा की उत्कृष्ट परिस्थिति है। आत्मा की उत्कृष्टता निर्विकार रहने में है।

27 अप्रैल 1965

प्रभुस्मरण में बीता हुआ समय सार्थक है। प्रभु ज्ञानघन, आनन्दकन्द है। उसके स्मरण में ज्ञान और आनन्द के स्वरूप का स्मरण रहता है। ज्ञान और आनन्द के स्वरूप का उपयोग विशिष्टता को त्याग कर सामान्यरूप में परिवर्तित होता है और सामान्यरूप से हुआ ज्ञान व आनन्द का उपयोग निजस्वरूप के उपयोग के कारण कर्मसंवर व कर्मनिर्जरण में होता है तथा सहजआनन्द प्रकट होता है। प्रभुस्मरण से सर्वसिद्धियाँ होती हैं। प्रभुस्मरण में बीता हुआ समय सार्थक है।

28 अप्रैल 1965

निरन्तर जिन के एकत्व का झुकाव रखो। कर्मोदय विचित्र हैं। कब कैसा विकट कर्मोदय आ जाए, कब कैसी प्रवृत्ति बन जाए? उन सब परिस्थितियों में भी निज के एकत्व की प्रीति ही वरदहस्तावलम्बन है। अन्तरंग से किसी भी बाह्यवस्तु में, विषयसाधन में रुचि मत करो। बाह्यार्थ व विषयसाधन तुम्हारे साथ सदा न रहेगा, अत्यल्प समय ही रहेगा, उसका तो शीघ्र ही वियोग हो जाएगा, परन्तु तुम में बीती हुई तरंग का तार सन्तान चिरकाल तक तुम्हारी आकुलता का कारण बनेगा। अतः पर की ओर, विषयसाधन की ओर झुकाव मत करो। निरन्तर निज के एकत्व का झुकाव रखो।

29 अप्रैल 1965

अपने में भरपूर रहो। जब अन्यायरूप प्रवर्तन होता है, तब यह जीव भले ही रौद्रध्यानवश मौज माने, किन्तु गुणविकास से रिक्त हो जाने के कारण अन्तरंग में रीता रहता है। इस रीतापन के कारण उथल-पुथल-उछल बनी रहती है, इसके परिणाम में यह अन्यायप्रवर्तन निरन्तर व्याकुल बनाए रहता है। जो बात अपने प्रति दूसरा करे और अपने को बुरा लगे, वह बात दूसरों के प्रति करना सो अन्याय है। अन्यायप्रवृत्ति से दूर हटो और अपने को ज्ञानानन्दघन निरखकर अपने में भरपूर रहो।

30 अप्रैल 1965

पापक्रिया से भय करो, कष्ट से भय मत करो। जगत् तो कष्टों का घर है। यहाँ किस-किस कष्ट का निवारण करोगे? बड़ा प्रयत्न करके कदाचित् किसी प्रकार का कष्ट मिटा लिया तो उससे बढ़कर नवीन कष्ट और आ जाता है। कष्ट हटा-हटाकर कष्टों से विराम पाने का उपाय सत्य नहीं है। कष्टों के तो सहिष्णु बनो। कष्टों का कारण है पापकर्म। पापकर्म से हटने का यत्न रखो। पापक्रियायें न होंगी तो भविष्य में कष्ट भी न होंगे। पापक्रिया से भय करो, कष्ट से भय मत करो।

1 मई 1965

तुम दुःख में उदास क्यों रहते हो? देखो, यहाँ जिसे देखो, वही कुछ न कुछ दुःख लिए हुए रहता है। तुम्हारा दुःख कोई दूसरा तो नहीं भोगता, दूसरे का दुःख तुम तो नहीं भोग सकते। जैसा दुःख दूसरों पर आया, वैसा दुःख तुम पर भी तो आ सकता है, आता तब जब दूसरा ऐसे दुःख को भोगता। इन दुःखों की कोई सही घुसपैठ नहीं है। तब इन अनधिकृत दुःखों को ज्ञानबल से ऊपर से ही निथारकर आनन्दघन ज्ञातृत्वस्वरूप को देखो। तुम दुःख में उदास क्यों होते हो?

2 मई 1965

स्वरूपविकास की ओर झुको। स्वरूपविकास की ओर झुकना ही णमोकारमन्त्र के जाप का मर्म है। नमन झुकने को कहते हैं। अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु- ये 5 स्वरूपविकास

हैं। पञ्चपरमेष्ठियों को नमन करने का मूल आशय पञ्चस्वरूपविकासों की ओर झुकना है। स्वरूपविकास के झुकाव के पुरुषार्थ से जब इतना गम्भीर ध्यान बन जाता है कि स्वरूपविकास का दर्शन स्वरूपदर्शन में विलीन हो जाता है, तब स्वरूपानुभव हो जाता है। यह स्वरूपानुभव ही साक्षात् धर्ममूर्ति है। धर्ममूर्ति की शरण ही सत्य शरण है। इस ही सत्य शरण में समस्त संकट समाप्त होते हैं। इस परम अन्तः पुरुषार्थ का सत्य शरण है। स्वरूपविकास की ओर झुको।

3 मई 1965

पर के प्रति आशा का परिणाम होना ही महाविपदा है। आत्मा तो स्वरूप से आनन्दमय है, आत्मा के स्वभाव में विपदा का नाम भी नहीं है। आत्मा का ऐसा अशुद्ध उपादान चला आ रहा है अब तक कि इसमें अशुभ भाव की तरंग उठती है, इस तरंग से आत्मा सर्वप्रदेशों में क्षुब्ध हो जाता है। अहो, कैसी अहितवृत्ति है यह परव्यामोह की? भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं, उनके प्रति इस मोही का झुकाव होता है। पर की ओर का यह झुकाव क्लृप्त भाव होने के कारण क्लेशरूप है। पर के प्रति आशा का परिणाम होना ही महाविपदा है।

4 मई 1965

पर पर ही है, उसके पीछे मत पड़ो। किसी पर के स्वरूप पर तेरा रंच भी अधिकार नहीं है, तू तो मात्र अपना विकल्प बनाकर उसमें ही रम जाता है। तेरे से बाहर तेरी कोई कला नहीं है, किसी अन्य की कोई कला तुझमें नहीं है। तू किसी परवस्तु की आशा न कर। अपने ज्ञानानन्दघन निजस्वभाव को देखो। यह निज है। निज निज ही है, इसके आश्रय से शांति प्रकट होती है। पर पर ही है, इसके पीछे मत पड़ो।

5 मई 1965

धर्महित पूर्ण यत्न करो। इन्द्रिय या मन किसी भी विषय का सुख भी विकल्प हो तो वह शल्य की तरह दुःख देता ही है। यही प्रवृत्ति धर्म की बाधिका है। धर्म करने के लिए उत्सुक हो, इसमें अग्रगामी बनना चाहते हो तो रंच भी विषयविकल्प न रखो। कुछ धर्म की ओर चलना चाहो, कुछ

विषयों का विकल्प न छोड़ सको तो इस धरा में तो तुम जहाँ के तहाँ ही रहोगे, कुछ भी लाभ न पा सकोगे। कुछ क्षण तो विषयविकल्पों का पूर्ण परिहार करो। धर्महित पूर्ण यत्न करो।

6 मई 1965

निरालम्ब होने में ही शांति है। आत्मा स्वरसतः निरालम्ब है। निरालम्बनस्वरूप होकर भी आलम्बन करने की जबरदस्ती करना- यह आत्मदेव पर अन्याय नहीं है क्या? साधारण प्राणी पर भी अन्याय किया जाए तो भी उसका कुफल भोगना पड़ता है। फिर यह तो चैतन्यमहाप्रभु पर घोर अन्याय किया जा रहा है, इसके फल में यदि अनन्त अशान्ति होती है, संसार में रुलना होता है तो यह तो अन्याय की बात है। हे हितार्थी आत्मन् ! तू परपदार्थ का आश्रय मत ले, तू स्वाश्रयी है। निरालम्ब होने में ही शांति है।

7 मई 1965

निर्विकार परिणति स्वयं वीरता है। किसी भी इन्द्रिय के विषय की आशा की जाए, उसमें चित्तवृत्ति कायर हो जाती है। जो रोज-रोज इस कायरता में गुजरते हैं, वे यदि किसी प्रकरणवश दो चार रोज को भी विषयवृत्ति से परे रह जाएँ और कुछ भी विवेक हो तो उसमें जो शौर्यभाव प्रकट होता है, उतने से ही यह प्रमाण किया जा सकता है कि विषयनिवृत्ति में ही धीरता, गम्भीरता व वीरता प्रकट होती है। विकारवृत्ति में आशा, प्रतिक्षा, इच्छा, दीनता, पराधीनता आदि अनेक विपत्तियाँ मंडराती हैं, जिनसे त्रस्त होकर यह विषयव्यामुग्ध प्राणी कायर हो जाता है। विषयवृत्ति ही स्वयं कायरता है। निर्विकार परिणति स्वयं वीरता है।

8 मई 1965

पर से सुख की आशा करना मूढ़ता है। कोई भी पर वह अपनी परिणति करे या तुम्हारी कुछ परिणति कर देगा? क्यों निज ज्ञानसूर्य पर मोह की धूल फैककर अपना अनर्थ कर रहे हो? किसी भी पर से कुछ आशा करने में मिलता तो कुछ नहीं, उल्टे पराधीन और बन जाना पड़ता है। पराधीनता का क्लेश महान् कष्टप्रद है। मोह की विचित्र विडम्बना है कि यह मोही प्राणी पर की आशा से उत्पन्न हुई पराधीनता का महाकष्ट भी भोगता जाता है और पर की आशा करना भी नहीं

छोड़ता। पर तेरे चाहे माफिक परिणम नहीं सकता। कभी परिणम जाए मनमाफिक कुछ, तो वह एक क्षणिक योग की बात है। वहाँ भी वह परपरिणमन तेरे सोचने से नहीं हुआ है। पर से न तेरा हित है, न सुख है। पर से सुख की आशा करना मूढ़ता है।

9 मई 1965

आत्मा की सर्वसमृद्धि आत्मा में ही है। आत्मा से बाहर कुछ भी हित की बात क्यों खोजी जा रही है? बाह्यसमृद्धियाँ मिल जाने पर भी यदि अन्तः समृद्धि नहीं है, ज्ञान स्वच्छ व जागरूक नहीं है तो ये बाह्यसमृद्धियाँ भी इस जीव को बोझ, अनर्थ व आपदा है। यह सर्वमर्म उनको ही विदित हो सकता है, जिन्होंने अलौकिक समृद्धि ज्ञातृत्व भाव का ज्ञान द्वारा अनुभव करके अनुपम सत्य आनन्द प्राप्त किया है। आत्मा का विभाव आत्मा से बाहर कहीं रंच है ही नहीं, आत्मा की सर्वसमृद्धि आत्मा में ही है।

10 मई 1965

मुक्ति का आनन्द ही वास्तविक आनन्द है। वास्तव में तो मुक्ति होने से आनन्द नहीं है। आनन्दमय तो यह आत्मा स्वरूप से है। उस आनन्द का घात बन्धन से हो रहा था, उस बन्धन के निकल जाने से जो वह जैसा था वैसा प्रकट हुआ है। इस चिरबद्ध आत्मा के बन्धनभाव से जो आनन्द प्रकट हुआ है, उसका यही सीधा प्रतिपादन है कि यह मुक्ति का आनन्द है। बन्धन दशा में विकारी जीवन रहता है। विकार में आनन्द बरबाद होकर सुख या दुःखरूप में प्रकट होता है। हे कल्याणार्थी आत्मन् ! विकृत मौज का भी आग्रह छोड़। देख, मुक्ति का आनन्द ही वास्तविक आनन्द है।

11 मई 1965

अन्तरंग में प्रभुनमस्कार की जाप जपता रहा। कर्मों के नाना उदय में नाना परिस्थितियाँ गुजरती हैं तो तू अपने अंतरंग में ज्ञानबल का प्रयोग कर निर्बाध अनुभवता हुआ उन परिस्थितियों को ऊपर के ऊपर से ही गुजार दे। इस पुरुषार्थ का यह बहुत महत्त्व का सहयोगी उपाय है कि तू सभी परिस्थितियों में बाह्यस्वरूप की याद न भूल। ज्ञान तो एक बार हो जाता है, सो वह वही रहता

है। ज्ञान का प्रकाश कर, सभी कलुषताओं को अहित तथा भिन्न जानकर, उनसे विमुख रहकर ज्ञानस्वरूप की ओर झुकाव कर। एतदर्थ यह भी कर- क्या? कि अन्तरंग में प्रभुनमस्कार का जाप जपता रह।

12 मई 1965

अपने को पर से विविक्त मात्र ज्ञानज्योतिस्वरूप निरख। अपने को यथार्थस्वरूप में नहीं निरखने से ही अनेक यातनाएँ भोगनी पड़ रही हैं। किसी भी स्थिति में, किसी भी कष्ट में तू एकचित्त होकर निजस्वरूप की ओर अपना उपयोग तो कर। तू स्वयं ही अनुभवने लगेगा कि इस निज विशुद्ध भूमि में कितना विशुद्ध आनन्द है? हे आनन्दार्थी ! सर्वशक्ति से सर्वविकल्पों को तोड़कर सर्वसमृद्धिमय निज सहजस्वरूप में विश्राम कर। इसमें तू सर्वकल्याण पाएगा। एतदर्थ अपने को पर से विविक्तमात्र ज्ञानज्योतिस्वरूप निरख।

13 मई 1965

आत्मा स्वयं ही स्वयं का रक्षक है। जो ईश्वर को सुख-दुःख का कर्ता मानते हैं, उन्हें भी यह कहना पड़ता है कि जीव जैसी करतूत करता है, उसके माफिक ही सुख-दुःख दिया जा सकता है, अन्य प्रकार नहीं। धर्म के वैज्ञानिक जन तो स्पष्ट बताते हैं कि सब पदार्थों में स्वयं परिणमने की शक्ति है, जीव भी स्वयं अपनी शक्ति से परिणमता रहता है, वह अपने भाव के अनुकूल अपनी सुख-दुःख अवस्था को प्राप्त करता है। यों यह स्पष्ट है कि यह आत्मा स्वयं ही तो विभावरूप परिणमकर संसारयातनाओं को भोगता है और स्वयं ही विभाववासना से मुक्त होकर अपने आनन्दस्वरूप को भोगता है, तब यही तो सुदृढ़ निश्चय हुआ कि आत्मा स्वयं ही स्वयं का रक्षक है।

14 मई 1965

आत्मावलम्बन ही संकट मेटने का सत्य उपाय है। सांसारिक संकटों को सांसारिक विधि से अर्थात् परवस्तुओं के निग्रह-अनिग्रह की बुद्धि से मेटना चाहें तो यह त्रिकाल नहीं हो सकता। सांसारिक संकट तो परपदार्थ के अवलम्बन से हुआ करते हैं और परपदार्थ के अवलम्बन को ही संकट मेटने की चिकित्सा समझो तो इसमें सफलता कैसे हो सकती है? हे हितार्थी ! अपने में

उत्साह बना, संकटों से मुक्त होने का साहस और पुरुषार्थ कर। संकटमुक्त निज आत्मतत्त्व का आलम्बन कर। आत्मावलम्बन ही संकट मेटने का सत्य उपाय है।

15 मई 1965

ब्रह्मचर्य ही उत्कृष्ट धर्मपालन है। इस ब्रह्मचर्य को विभिन्न पदों में रहने वाले लोग अपनी अपनी पद्धति से पालन करते हैं। गृहस्थजन स्वदारसंतोषव्रत ग्रहण करके देवपूजा, पात्रदान आदि व्यवहारधर्मों को करते हुए बाह्यस्वरूप की आराधना का प्रयत्न करते हैं। उत्तम श्रावक स्वदार, स्वगृह के वैभव आदि का परित्याग करके साधु सत्संग में पवित्राचरण से रहकर ज्ञानध्यान की आराधना में उपयोग को लगाकर ब्रह्मस्वरूप की आराधना का प्रयत्न करते हैं। साधुजन सर्वपरिग्रह परित्यागकर, गातमात्र रहकर, ज्ञानध्यान तप में मग्न होकर ब्रह्मस्वरूप की आराधना के पुरुषार्थ में प्रवर्तते हैं। योगिराज आत्मप्रकाश में मग्न रहकर, ब्रह्मस्वरूप के अनुभव में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। ब्रह्मचर्य के बिना आत्मोद्धार नहीं है, अतः सर्वप्रयत्न करके ब्रह्मचर्य की उपासना में अपने को लगा दो। ब्रह्मचर्य ही उत्कृष्ट धर्मपालन है।

16 मई 1965

सत्संग में निवास करो। सत्संग में चूंकि अनेक पुरुष होते हैं, उनमें कोई यश व भोजन आदि का विशेष उत्सुक होता है, उसकी चेष्टा कभी प्रतिकूल पड़ जाती है। इतना ही मात्र कष्ट है सत्संग निवास में, किन्तु व्रतपालन, तपश्चरण, ब्रह्मचर्य, ज्ञानार्जन, तत्त्वचर्चा आदि अनेक लाभ हैं। मन की साधना बनाकर एक उस अल्प कष्ट को सहने की सहिष्णुता रख लेवे और सत्संग में निवास करे- यह मुमुक्षु का प्राथमिक कर्तव्य है। यदि आत्मशांति के मार्ग के सच्चे अनुयायी बनना चाहते हो तो सत्संग में निवास करो।

17 मई 1965

असत्संग पतन का कारण है। धर्महीन, अविवेकी पुरुषों को असत् पुरुष कहते हैं, उनका संग करना व्रतों की शिथिलता व्रतविनाश व कषायप्रगति का कारण है। यदि आत्मदया है, आत्मोद्धार चाहते हो तो बालकों का संग तो प्रथम ही त्याज्य है, क्योंकि वह अवस्था अविवेकपूर्ण है। जवान व

वृद्धों में जो धर्महीन है, उनका संग पतन का कारण है। असंयमी, अज्ञानी, अविवेकी, लोकेषणा के इच्छुक, तृष्णालु पुरुषों का संग अवगुण को ही प्रश्रय देने वाला है। इस कारण असत्संग का परिहार करो। असत्संग पतन का कारण है।

18 मई 1965

मेरा मात्र मैं हूँ। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वचतुष्टय से ही सत् है। फिर किसे मैं अपने सत् में शामिल कर सकता हूँ? कोई बाह्यवस्तु मेरे निकट भी रहे, फिर भी जो मेरे ज्ञान में कल्पना चलेगी, बर्ताव तो उसी का होगा, फल तो उसी का भोगना पड़ेगा। मेरा रक्षक विश्व में अन्य कोई हो ही नहीं सकता। भले ही पुण्योदयवश किसी का आधार मिलने का सुयोग मिल जाए, किन्तु वह भी तो मेरा पूर्वकृत परिणाम का ही परिपाक है। वस्तुतः मेरा कहीं कोई नहीं है। इसमें कोई ग्लानि की बात नहीं है, यह तो वस्तुस्वरूप की बात है। खूब देख लो, निर्णय कर लो- मेरा मात्र मैं हूँ।

19 मई 1965

आत्मबल प्रकट करो। अन्याय से दूर रहने में आत्मबल प्रकट होता है। आत्मबल के प्रताप से ही आत्मा स्थिर, शांत रह सकता है। अन्यायमुक्त जिनका जीवन है, वे कदाचित् धनी भी हों, किन्तु उनको अन्तरंग में निराकुलता रह नहीं पाती है। इसका कारण यह है कि जो अन्याय करते हैं, उन्हें अपना असदाचार तो विदित ही है, चाहे मायाचार के कारण अन्य लोग न जानें। जो जानते हैं अपना असदाचार, उनके आत्मबल नहीं रहता। आत्मबल के बिना शांति नहीं हो सकती। आत्मा ज्ञायकस्वभाव है। ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की भावना से आत्मबल प्रकट होता है। अतः अपने को ज्ञानमात्र अनुभव में लेकर आत्मबल प्रकट करो।

20 मई 1965

मैं ज्ञानमात्र हूँ- ऐसा बार-बार अनुभव करो। अपने को किसी रूप अनुभव किए बिना कोई रह ही नहीं सकता। एकेन्द्रिय से लेकर सिद्धभगवान् पर्यंत सभी अपने को अनुभव करते हैं। अनुभवना आत्मा का स्वभाव है। अपने को पर्यायमात्र अनुभवने से संसारसंकट बढ़ता है व अपने को ज्ञानमात्र अनुभवने से संसारसंकट समाप्त हो जाता है। केवल ज्ञानमात्र अपने को निरखने से विशुद्ध आनन्द

का उत्पादक ज्ञानानुभव प्रकट होता है। ज्ञानानुभव में मात्र विशुद्ध ज्ञान का अनुभव है। राग, द्वेष संकल्प, विकल्प आदिक किसी भी परभाव का प्रवेश नहीं है। अपने को निराकुल बनाने के लिए “ज्ञानमात्र हूँ”- ऐसा बार-बार अनुभव करो।

21 मई 1965

जीवन का लक्ष्य आत्महित ही निश्चित करो। अनादिकाल से नाना कुगतियों में भटकते-भटकते आज मनुष्यभवन पाने का सुयोग पाया है। यहाँ भी विषयकषायों के प्रवाह में बह गए तो जो चिरकाल से करते आए अपने को दुःखों में रखने का काम तो वही तो यहीं किया, कोई अपूर्व काम तो नहीं हुआ। यह मनुष्यजीवन भी कुछ ही क्षणों में समाप्त हो जाएगा। इस दुर्लभ मनुष्यजन्म को असार व्यर्थ अनर्थकारी कुभावों में नष्ट मत कर डालो। इस नरभव से कोई अपूर्व अलौकिक लाभ प्रकट कर लो। यह जीवन विषयसाधन करने के लिए नहीं है। जीवन का लक्ष्य आत्महित ही निश्चित करो।

22 मई 1965

संयम की बाढ़ मजबूत करो। विषयकषायों के द्वारा शांतिधन का उजाड़ रोकने के लिए संयम एक दृढ़ बाढ़ है। बाढ़ कहीं से एक बार टूट जाए तो करीब आसपास की सब बाढ़ धीरे-धीरे टूट जाती हैं, फिर विषयकषायों की अनर्गल घुसपैठ हो जाती है। ये विषयकषाय के भाव अनर्गल प्रवृत्ति करके विवेक, शांति आदि सब गुणों को चर डालते हैं, फिर यह आत्मा अशांत व व्याकुल हो जाता है। अपना विवेक पुष्ट किए बिना आत्मप्रगति न कर सकोगे। जहाँ विवेक और शांति ही विदा हो चले तो फिर तेरे आनन्द के लिए तेरे पास रहा क्या? देख विवेक और शांति की रक्षा कर। इसके लिए तुम्हारा आवश्यक कर्तव्य है कि संयम की बाढ़ मजबूत करो।

23 मई 1965

सत्संग का आदर करो। आरम्भ से अन्त तक सत्संग से ही हित होता है। प्रतिपद में सत्संग का विशिष्ट अर्थ करते जाओ। प्रथम तो अनुदण्ड पुरुषों का संगरूप सत्संग चाहिए। फिर ज्ञानी विवेकी पुरुषों का संगरूप सत्संग चाहिए। फिर संसार, शरीर, भोगों से विरक्त पुरुषों का संगरूप सत्संग चाहिए। फिर अपने सहजसत्स्वरूप गुणों की दृष्टिरूप संग हो- ऐसा सत्संग चाहिए। फिर

सहजगुणों के निरन्तर उपयोगी निर्ग्रन्थ निरारम्भ ज्ञानरत ध्यानी तपस्वी साधुसंतों का संगरूप विशेषता चाहिए। फिर आत्मीय सहज सद्भूतगुणों का विकासरूप सत्संग चाहिए। अधिक क्या कहें? जो प्रभु हो गए हैं, उनके भी सहज पूर्णविकसित केवलज्ञान, अनन्त आनन्द आदि सद्भूत गुणों का निरन्तर अनुभवनरूप संग बना रहता है। आरम्भ से अन्त तक सत्संग से ही हित होता है। सत्संग का आदर करो।

24 मई 1965

पराधीनता ही क्लेश है। जब तक शरीर का सम्बन्ध है, तब तक पराधीनता ही है। प्रथम तो शरीर पर है, उसकी अधीनता है। शरीर की जरूरते पूरी करो, शरीर की बाधाएँ दूर करो, इसी काम में जुटे रहो, फल भी इसका आनन्द नहीं है, किन्तु क्लेश व संक्लेश है। फिर शरीर के नाते से अन्य अनेक जीवों की अधीनता सहो, वहाँ तो और भी अधिक क्लेश व संक्लेश होता है। शरीर तो जड़ है, वह अपनी ओर से तो कुछ बक-बक नहीं करता, जानबूझकर उल्टी चेष्टा तो नहीं करता है। ये परिजन, मित्रजन, सम्बन्धीजन तो जानबूझकर भी कषायवश प्रतिकूल चेष्टा कर जाते हैं। फिर अन्तिम बात यह है कि शरीर-सुख और लोकप्रतिष्ठा के लिए बहुत से अचेतन परिग्रहों का सञ्चय भी करना पड़ता है, उस प्रसंग में भी क्लेश व संक्लेश चलता है। यों पराधीनताओं में सर्वत्र क्लेश ही है। इस क्लेश से बचने के लिए क्लेशरहित ज्ञायकस्वभावी निज अन्तस्तत्त्व का आश्रय लो। स्वाधीनता में ही शांति है। पराधीन होने जैसा विकल्प मत करो। पराधीनता ही क्लेश है।

25 मई 1965

सबसे न्यारा ज्ञानमात्र अपना अनुभव करो। परवस्तुओं का मोह कर-करके अनन्तकाल तो व्यतीत कर डाला, बता क्या है तेरे साथ? तू सबसे अत्यन्त पृथक् ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र है, इस निज अद्वैत की दृष्टि करो। पर तो पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में ही है, वह अपनी जगह से रंच भी नहीं हट सकता। तू अपने ही प्रदेश में ही कल्पना की परिणति बनाकर दुःखी होता है। तू इस विभक्तता की ओर दृष्टि देकर समस्त परविषयक विकल्पों से दूर रह। देख, यही एकमात्र कल्याण का उपाय है, अन्य उपाय मानने का श्रम व भूल मत करो। अन्तःसाहस बनाकर सबसे निराला अपने को निरखता रह। अपने को अन्यरूप मत भान। सबसे न्यारा ज्ञानमात्र अपना अनुभव करो।

26 मई 1965

निर्विकार जीवन ही सच्चा जीवन है। विकार के सिवाय अन्य कुछ जीवों को क्लेश नहीं है। विकार भाव स्वयं क्लेशरूप है। बाह्यपदार्थ तो मात्र वे अपने गुणों में परिणमते रहते हैं, उनसे तुझे क्लेश कैसे आ सकते हैं? तू अज्ञानवश परविषयक अनेक कल्पनाएँ करता है और उन्हीं विकारमयी कल्पनाओं से दुःखी होता है। यदि दुःख नहीं चाहिए तो विकार में रुचि मत कर, विकारी मत बन। विकार सहित जीना भी वास्तव में मरण है। विकार से आत्मा के चैतन्यप्राण का घात होता है। यही आत्मा का मरण है। विकारसहित जीवन से लाभ नहीं, हानि ही है। अतः आत्मकल्याण के लिए निर्विकार जीवन होना अत्यावश्यक है। निर्विकार जीवन ही सच्चा जीवन है।

27 मई 1965

ज्ञान दृष्टि में बीता हुआ क्षण ही सफल है। ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्व को छोड़कर विकल्पों में, परपदार्थों में उपयोग लगाया तो वह अज्ञानदृष्टि हुई। अज्ञानदृष्टि का फल संसार है। अज्ञानदृष्टि से ही जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती है। संसार के समस्त संकटरूपी फल अज्ञानदृष्टि के वृक्ष में फलित होते हैं। अज्ञानदृष्टि ही विपदा है। अज्ञानदृष्टि में बीता हुआ क्षण बेकार है। ज्ञानदृष्टि में बीता हुआ क्षण ही सफल है।

28 मई 1965

श्री तो वास्तव में प्रज्ञा ही है। प्रज्ञा के अभाव में विकल्पों का प्रवाह बह उठता है। विकल्पात्मक जीवन रहते हुए यदि धातवस्कन्धों का ढेर भी निकट हो तो भी शांति के अभाव से उसके लिए वह श्री नहीं हो सकती है। श्री का अर्थ है- 'स्व आश्रयते इति श्रीः', जो स्व का आश्रय करे वह श्री है। स्व आत्मा का शाश्वत आश्रय करने वाला तो सहजस्वभाव है। इस सहजस्वभाव के विकास की पृष्ठ-भूमिका प्रज्ञा है। जो प्रकृष्टरूप से जाननवृत्ति है, उसका नाम प्रज्ञा है। वस्तु के यथार्थस्वरूप को जानकर परम उपेक्षाभाव के कारण तो पर से निवर्तमान और स्व में प्रवर्तमान उपयोग है, उसे प्रज्ञा कहते हैं। प्रज्ञाबल से आत्मा में समृद्धि होती है। यही समृद्धि आत्मा की प्रथम

श्री है। हे शांति के इच्छुक जनो ! अपने से बाहर किसी अन्य स्थान में श्री की तलाश करने का व्यर्थ श्रम न करो। श्री तो वास्तव में प्रज्ञा ही है।

29 मई 1965

आशा ही क्लेश है। आशा किसी परद्रव्य के विषय में झुकाव होने पर होती है। जहाँ उपयोग अपने धाम को छोड़कर अन्य वस्तु की ओर चला तो यह अनीति स्वयं क्लेशरूप हो जाती है। क्लेश से मुक्त होना है तो इस अनीति का परित्याग करो। उपयोग को अपने निजधाम की ठौर पर ही रहने दो। उपयोग किसी पर की ओर न झुके तो आशा का परिणाम नहीं होगा। जहाँ आशा नहीं है, वहाँ क्लेश नहीं है। तुम किसी परद्रव्य को क्लेश का कारण मत समझो और इस समझ को लादकर परवस्तु के सञ्चय और विनाश का परिश्रम करके दुःखी मत होओ। तुम तो निजधाम में ज्ञान की स्वच्छता का अभ्युदय करके आशा का अभाव करो, क्योंकि आशा ही क्लेश है।

30 मई 1965

इच्छारहित ज्ञानमात्र अपने आत्मस्वरूप को देखो। तुम तो सहज ही आनन्दमय हो। तुममें क्लेश है कहाँ? अपने आनन्दमयस्वरूप की सुध नहीं है, इसी से क्लेश का अनुभव किया करते हो। तेरा तेरे सिवाय और कौन है? अपने से भिन्न अन्य पदार्थ पर दृष्टि देने से विकल्पात्मक परिणामन होगा ही, उसमें तुम कष्ट का अनुभव करोगे ही। अपने को भी जैसा सहज तेरा स्वरूप है, वैसा न मान करके सौपाधि, विकारी मानते रहोगे तो वहाँ विकार को अंगीकार करने से विकारी बन-बनकर क्लेश पावोगे ही। अपने को सहज ज्ञानानन्दस्वरूप मानों। अपने को अन्य अन्य रूप मत देख। इच्छारहित ज्ञानमात्र अपने आत्मस्वरूप को देखो।

31 मई 1965

अपने केन्द्र में आवो। आत्मप्रदेश से बाहर उपयोग की दौड़ लगा-लगाकर इतने तो परेशान हो गए हो, अब भी विश्राम नहीं लेना चाहते हो। बाहर में तेरा कौन परिचित है, किसे तुम अपना गुणगौरव दिखाना चाहते हो? तुम्हारा कौन साथी? प्रत्येक वस्तु का गुण और पर्याय उस ही वस्तु में

तन्मय है, फिर किसी भी चेतन या अचेतन पदार्थ से तुमको मिल क्या जाएगा। बाहर में मत घूमो। शांति चाहते हो, निराकुल होना चाहते हो, शुद्ध रहना चाहते हो तो अपने केन्द्र में आवो।

1 जून 1965

आत्मा की प्रभुता निहारो। प्रत्येक आत्मा में प्रभुस्वरूप है। सब आत्मा चित्स्वरूप है। चेतन में आनन्द का शाश्वत् समवाय है। यह ज्ञान और आनन्द स्वयं स्वतः है। इस सहज ज्ञानानन्दस्वभाव का ही नाम तो प्रभुता है, इस सहज ज्ञानानन्दस्वभाव के पूर्ण शुद्ध विकास का नाम ही तो प्रभुता है। यह शक्तिरूप प्रभुता समस्त जीवों में है। इसी राज को लोग इन शब्दों में प्रकट करते हैं कि भगवान् घट-घट में विराजमान है। अपने में विराजमान भगवान को निहारो तो निहाल हो जावोगे। कल्याण चाहते हो तो ऐसी स्वभावरुचि करो कि बाहर देखो तो सब जीवों में प्रभुता निहारो, अन्तः देखो तो अपने आत्मा की प्रभुता निहारो।

2 जून 1965

ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की भावना से ज्ञानबल बढ़ाओ। निज शुद्ध स्वरूप के रमण का संतोष जब प्राप्त नहीं होता है, तब कायरता, दीनता व आकुलता का जमाव हो जाता है। कोई पुरुष दुनिया को भलापन दिखाकर स्वयं अन्तरंग में मलिनता का भाव पुष्ट करे तो इससे उसने दूसरे को धोखा नहीं दिया, किन्तु खुद को ही धोखा दिया। श्रद्धा व चारित्र से हीन पुरुष गौरवरहित होकर व्याकुलता को ही भोगता है। अपने आपमें अपने आपके स्वरूप को पोषे बिना आत्मगौरव नहीं बनता। आत्मगौरव के बिना यह प्राणी हल्का, गुणहीन होकर कल्पनाओं में आक के तूल की तरह उड़ता फिरता है। यह यश की भी चाह करता, किन्तु यश न होने से अतीव खेदखिन्न रहता है, इतना ही नहीं, अपयश की ज्वाला में भुनकर दुःखी ही बना रहता है। शान्ति चाहते हो तो ज्ञानबल का आदर करो, ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की भावना से ज्ञानबल बढ़ाओ।

3 जून 1965

ज्ञान को ज्ञानस्पर्शी नया-नया काम दो। जो विषयकषायों की असारता जानकर उन कुभावों में तो रम नहीं सकते हैं और ज्ञान को रमाने का कोई स्थान देना आवश्यक है। अब एक यही उपाय है

कि आत्मविज्ञान का पदार्थविज्ञान के सम्बन्ध में जो ऋषि सन्तों का व्याख्यान है, उपदेश है, अनुभव है, उसे अधिकाधिक पढ़ा जावे अर्थात् आर्ष आगमों का अध्ययन किया जावे। वीतराग साधुओं के वस्तुप्रतिपादन के अध्ययन में ज्ञानस्पर्शी नया-नया काम अधिकाधिक मिलता है। अतः आर्ष आगमों का अध्ययन करके ज्ञान को ज्ञानस्पर्शी नया-नया काम दो।

4 जून 1965

जो प्रवृत्ति किसी भी रूप में समाधिभाव की साधिका हो उस प्रवृत्ति को करो, जो समाधिभाव में बाधिका हो उसे मत करो। यह सब निर्णय तभी सम्भव है, जब समाधिभाव ही पूर्णरूप से रुच जाए। लौकिक पुरुषों से अपना यश चाहने का परिणाम न हो तो यह साहस लग सकता है। ज्ञान को ज्ञान मिलता जाए- ऐसी स्थितियाँ ही समाधि की साधिकायें हैं। यह भी निश्चय विशुद्ध ज्ञानी को आत्मसंतोष से हो जाता है। जो प्रवृत्ति किसी भी रूप में समाधिभाव की साधिका हो उस प्रवृत्ति को करो, जो समाधिभाव में बाधिका हो उसे मत करो।

5 जून 1965

सहज विश्राम पाओ। मन का श्रम एक कठिन श्रम है। आत्मदेव इस श्रम से थककर हीनबल रहा करता है। किसी भी परवस्तु के विषय में कुछ परिणमन चाहने के कारण विकल्पों का ताँता बना रहना यही मन का कठिन श्रम है। इस श्रम से थककर प्राणी दुःखी भी हो जाता है और दुःख दूर करने के लिए यही श्रम करता जाता है। विपरीत उपाय करने से सिद्धि नहीं होती। हे आत्मन् ! अब विकल्परूप विपरीत श्रम का परिहार करो, निर्विकल्प सहज चित्स्वभावमात्र अन्तस्तत्त्व का आदर करो। असहजभाव की असहज रुचि करके अब तक असहज देहों का व्यर्थ बोझ लाद करके असहज क्लेश पाए हैं। अब हे शांति के इच्छुक ! आत्मीय सहजभाव की रुचि करके सहज परिणति का अनुभव करते हुए अपने आपमें सहज विश्राम करो।

6 जून 1965

निज सहजस्वरूप को निरखकर अन्तःप्रसन्न रहो। दुनिया के लोग क्या करते है, क्या कहते है? इसे जानकर अपनी प्रशंसा के खातिर क्षोभ मत करो। इस स्थिति में जो क्षोभ आया है वह

प्रशंसा-चाहरूप स्वयं की विभाव परिणति से आया है। तुम तो यह विवेक बनाए रहो कि तुम्हारी प्रवृत्ति ऐसी न हो, जिससे अन्य जीवों पर अन्याय हो जाए, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा- इन पाँच पापों में से कोई पाप न हो। तुम्हें अपना कल्याण करना है, वह तुमसे अपने आपसे होगा, अतः अपनी निर्मलता का भाव रखो। निज सहजस्वरूप को निरखकर अन्तःप्रसन्न रहो।

7 जून 1965

सभी मनुष्यों के पूर्वज असंख्य हो चुके हैं, कौन रह सका है यहाँ? नाम की धुनि बेकार ही है ना। सत्ययुग के प्रवर्तक भगवान श्री ऋषभदेव के कुल में, इक्ष्वाकुवंश में उनके संतान, संतानों के संतानों की परम्परा से श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर के निर्वाण धारने तक अनगिनते संतानक्रम में राजा हो गए हैं। भगवान मल्लिनाथ के निर्वाण होने के बाद कुछ समय के पश्चात् पिता-पुत्रों की यह पीढ़ी रही- राजा श्री विजय, सुरेन्द्रमन्यु, पुरन्दर (बज्रबाहु के भाई), कीर्तिधर, सुकौशल, हिरण्यमगर्भ, नघोष, सौदास; सिंहरथ, ब्रह्मरथ, चतुर्मुख, हेमरथ, सत्यरथ, पृथुरथ, पथोरथ, दृढरथ, सूर्यरथ, मान्धाता, नीरसेन, पृथ्वीमन्यु, कमलबन्धु, रविमन्यु, बसंततिलक, कुवेरदत्त, कुन्धुभक्त, शतरथ, द्विरदरथ, सिंहदमन, हिरण्यकश्यप, पुंजस्थल, रघु, अनरण्य, दशरथ, राम। इस प्रकार राम की 34 पीढ़ी के पूर्वज पिताओं के नाम अब ग्रन्थ में ही शेष है, कौन यहाँ है? जब महापुरुषों की भी यही कथा है तो हम आपकी भी बात क्या? यहाँ नाम रखने का विकल्प न करो। सोचो तो, सभी मनुष्यों के पूर्वज असंख्य हो चुके हैं, कौन रह सका यहाँ?

8 जून 1965

किसी भी चेतन या अचेतन वस्तु में स्नेह मत डालो। सारा क्लेश स्नेह का है। स्नेह जग जाने पर उस वेदना की चिकित्सा कठिन है। कोई भी परजीव हो, तुमसे अत्यन्त भिन्न ही है। उसका जो परिणमन तुम चाहोगे वह वहाँ ही हो जाए- ऐसा तो अधिकार है ही नहीं, तब जब कभी भी तुम पर के स्नेह में दुःखी रहोगे। स्नेह स्वयं पापभाव है और स्वयं आकुलतारूप है। स्नेह मत जगावो, स्नेह से दूर रहने का लक्ष्य रखो और यत्न करो। अचेतनता का स्नेह तो जड़ का स्नेह है। जड़ के स्नेह में क्या बुद्धिमानी है? चेतन के प्रति स्नेहवृत्ति करने पर उसकी ओर से स्नेहवृत्ति प्रकटेगी, उसे निरखकर और भी अधिक विवश हो जावोगे। इस कारण प्रथम ही विरक्त रहने के प्रयास में रहो, किसी भी चेतन या अचेतन वस्तु में स्नेह मत डालो।

9 जून 1965

अन्तःमौन गहो, अवश्य शांति होगी। जैसे बाह्यजल्पों से कभीकभी तो बाह्य भयंकर उपद्रव आ पड़ते हैं- ऐसे ही अन्तःजल्प से इस आत्मदेव पर विकल्पों के संकट आ पड़ते हैं। जैसे बाहरी परजनकृत उपद्रवों से बचने के लिए मुख का मौन ग्रहण कर लेना एक सुगम उपाय है, इसी प्रकार अन्तःविकल्पसंकटों के उपद्रव से बचने के लिए अन्तःमौन ग्रहण कर लेना एक सुगम उपाय है। ऐसी विशुद्ध ज्ञानदृष्टि बनाओ, जिसमें मात्र ज्ञातृत्व परिणाम रहे। निर्विकल्प अनुभूति द्वारा अन्तर्जल्पों का निरोध कर देना अंतःमौन है। अन्तःमौन गहो, अवश्य शांति होगी।

10 जून 1965

अपने आत्मदेव के दर्शन का प्रसाद पा। बाहर में कहीं कोई कुछ परिणमन कर रहा हो, वह उस ही दूसरे पदार्थ की ही तो बात है, उससे तुममें क्या सुधार बिगाड़ है? जो चेतन अचेतन पदार्थ जैसा है, तैसा है, उससे तुम्हारा क्या? तुम इन असमानजातीय व्यञ्जनपर्याय में उपस्थित मनुष्यों से अपनी कीर्ति की बात चाहोगे तो इस आशय के कारण अन्त तक दुःखी होना पड़ेगा। जिसका आदि ही कलुषित है, मूल आशय ही कलुषित है, उसमें कैसे शांति पावोगे। किसी से कुछ आशा मत रक्खो। तुम्हारी शांति किसी अन्य वस्तु से नहीं मिलेगी। तुम तो स्वयं शांतिस्वरूप हो। अन्य से शांति चाहने की जरूरत क्या? अन्य पदार्थ पर दृष्टि देकर जो अशांति बना रखी है, उस अशांति को दूर करने के लिए अन्य पदार्थ पर दृष्टि देने रूप विपरीत कार्य को न कर, शांतिमय अपने आत्मदेव की उपासना कर। इस उपाय से अवश्य शांति मिलेगी। शांति आत्मदेव के दर्शन का प्रसाद है। अपने देव के दर्शन का प्रसाद पा।

11 जून 1965

ज्ञायकस्वरूप की रुचि में सत्य शरण मिलेगा। किसी परपदार्थ का समागम मिला लेने से तुममें क्या आय हो जाएगी? अर्थ का विकल्प मचा लेने से अशांति और शल्य की अनिष्ट आय ही होगी। किसी भी अन्य में रुचि करने से बरबादी ही सारी है। इसमें पापबन्ध करोगे, आकुलता भोगोगे, पराधीनता का कष्ट सहोगे। आखिर रहेगा भी कुछ नहीं। रहता तो कभी भी कुछ नहीं तुम्हारा,

केवल कल्पना में मान लिया जाता है कि मेरी कल्पना माया है। न तो कल्याण शरण हैं और न परपदार्थ की रुचि शरण है। ज्ञायकस्वरूप की रुचि में सत्य शरण मिलेगा।

12 जून 1965

अपनी झांकी पाकर मौज से मुक्त होओ। पर की ओर की दृष्टि में विकल्पों का बोझ लाद लिया जाता है; जिस श्रम के फल में क्लेश और दुर्गति का लाभ है। बोलो यह लाभ तुम्हें चाहिए? यदि क्लेश व दुर्गति तुम्हें अभीष्ट नहीं है तो विकल्पों का बोझ दूर कर दो। निज चैतन्य प्रतिभासस्वरूप को दृष्टि में लेने से यह समस्त विकल्पबोझ दूर हो जाता है। क्लेश से छुटकारा पाने के लिए अन्य उपाय याने पर के संग्रह-विग्रह का उपाय मत खोजो। अपने आपके निकट आने का प्रयोग करके तो देख लो। अपनी झांकी में ही समस्त विकल्पों का बोझ दूर होगा, अपनी झांकी पाकर बोझ से मुक्त होवो।

13 जून 1965

स्वयं की तो समझ कर ही लो। क्यों सबकी जानकारियों को तरस और कोशिश करके तो इष्ट बनाया व खुद की जानकारी न करके अँधेरा साफ? इसमें तो तुम कभी शांति न पा सकोगे। यह तो गजब का अंधेर है कि खुद की जानकारी न रहे। तुम्हारा जानना ही तो स्वरूप है। जाननस्वरूप का जानन तो सुगम स्वाधीन है। सर्व पदार्थों का सत्त्व स्वतन्त्र-स्वतन्त्र जानकर परपदार्थों से अपना कोई वास्ता न समझकर एक बार समस्त परपदार्थों का विकल्प दूर कर दो याने किसी भी परपदार्थ को अपने उपयोग में मत लो। यह स्वयं स्वयं की झांकी करके सहज आनन्दमय स्वयं को समझ लेगा। स्वयं की समझ से ही कल्याण है, मुक्तिमार्ग की प्राप्ति है। अपना हित चाहते हो तो स्वयं की तो समझ ही कर लो।

14 जून 1965

अब कब तक रुलना चाहते हो? इस विभावलोक में रुलते अनन्तकाल तो व्यतीत कर डाला, अब तक तो तृप्त हुए नहीं, अब क्या तृप्त होने का स्वप्न देख रहे हो? देखो, विषयसाधनों के विकल्प में, विषयों के भोग में कभी भी तृप्ति नहीं होगी, उल्टा असंतोष क दाह बढ़ता चला जाएगा।

विषयों की आसक्ति का फल स्थावर, कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि कुयोनियों में जन्म ले-लेकर दुःखी बना रहता है। यह रुलना क्या तुम्हें इष्ट है? यदि रुलना इष्ट नहीं है तो विषयस्पृहा का त्याग करो। पहिले सम्यग्ज्ञान द्वारा अपने आशय को निर्मल बना लो। यदि सम्यक्प्रत्यय न कर सके तो रुलना ऐसा का ऐसा ही बना रहेगा। बोलो- अब कब तक रुलना चाहते हो?

15 जून 1965

जीवों को निरखकर उनके सहज चैतन्यस्वरूप पर दृष्टिपात करो। जो व्यञ्जनपर्याय दिखती है, जो चेष्टा परिणति दिखती है, वह मायारूप है, औपाधिक है। उनकी कोई परिणति यदि तुम्हारे विरोध में होती है तो यह तथ्य जानो कि उन्होंने तुम्हारे विरोध के लिए वह परिणति नहीं बनाई, किन्तु मायावश होकर अपनी वेदना की शांति के लिए जो उपाय उन्हें सूझ गया, उस उपायरूप अपने विभावपरिणमन को किया। तुम मायावश होकर उनकी मायापरिणति देखकर मायामयी विरुद्ध कल्पना बनाकर दुःखी होते हो तो इसमें कोई क्या करे? तुम वहाँ विनश्वर इन्द्रजाल को तथ्य ही क्यों मानते हो? तथ्य तत्त्व के द्रष्टा बनो। जीवों को निरखकर उनके सहज चैतन्यस्वरूप पर दृष्टिपात करो।

16 जून 1965

सत्य श्रद्धान्, विचार, आचार से ही शांति प्राप्त होती है। असत्य श्रद्धान्, आचार, विचार होने पर भी कदाचित् किसी को प्रायः मनचाहा आराम, विषयसाधन, मौज मिल रही हो, किन्तु वह सब विनाश के ही सम्मुख है। उसके यह मौज आगे न चल सकेगा। इस असत्व मौज में उसे शांति नहीं मिलती। शांति वहाँ ही है, जहाँ इच्छा न रहे। सत्य श्रद्धान्, विचार, आचार हुए बिना इच्छा दूर नहीं हो सकती। मैं स्वयं स्व सहज चिदानन्दस्वभाव से परिपूर्ण हूँ, मेरा पर में अभाव है, पर का मुझमें अभाव है। ऐसे निजतत्त्व श्रद्धान्, विचार और इस ही रूप, उपयोग बनाए रहनेरूप परमाचार से शांति प्रकट होती है। हे आत्मन् ! अपने आपके स्वरूप का सत्य श्रद्धान् करो, इसी यथार्थस्वरूप का विचार करो और ऐसा ही परिणमन बनाओ, क्योंकि सत्य श्रद्धान्, विचार, आचार से ही शांति प्राप्त होती है।

17 जून 1965

सम्यक्त्व का आदर करो। कल्पनाकलित, कठिन, कलुष क्लेश के काट का कारण सम्यक्त्व है। कल्पना कल्लोल के लोल-सलिल में दुर्ललित जीवलोक का लालनहार सहारा सम्यक्त्व है। शेमुषी की स्वच्छता सरसाने वाली सरस्वती की साधना सम्यक्त्व है। विषयविपिन के विशाल वीभत्स वपु-विटपों में भूले-भटके अबुद्ध प्राणियों को बुद्धिबली बनाकर अविथत बाट पर लगाने वाला वास्तविक बन्धु सम्यक्त्व है। असार संसार में संसरण करने वाले संसारी जीवों को अशिव का सागर से तिराकार सार शिवपद में आसीन करने के श्रेय का आश्रय सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व स्व के सहजस्वरूप के संदर्शन में सुभासित स्व का श्रद्धान् है। इस विशद आत्मरूप सम्यक्त्व का आदर करो।

18 जून 1965

सम्यग्ज्ञान ही शांति का उपाय है। ऐसे जानन का नाम शांति है, जिस जानन में विकल्प का रंग नहीं है। शांति का ज्ञान से सम्बन्ध है। धन, वैभव आदि तो प्रकट भिन्न हैं, अतः धनादि से शांति तो कभी हो ही नहीं सकती। शांति के उपाय में कहीं बाहर दृष्टि देना उल्टा कदम है। सम्यक्ज्ञान ही शांति का उपाय है।

19 जून 1965

अपना ही भरोसा वास्तविक भरोसा है। सभी प्राणी अपनी ही शांति के लिए उद्यमशील रहते हैं। चाहे शांति न मिले, परन्तु उद्यम शांति का ही करते हैं। पर से अपने को कुछ प्राप्त हो ही नहीं सकता, भरोसा किस बात का? अपने परिणाम सत्यश्रद्धान्रूप, सत्यज्ञानरूप रहा करें तो यह अपना भरोसा शांति व कल्याण पाने के लिए सत्य भरोसा है। पर का भरोसा तो मात्र कल्पना की चीज है। अपना भरोसा ही वास्तविक भरोसा है।

20 जून 1965

ज्ञानबल से मन पर विजय पाकर शान्त हो लो। अशांति का कारण विकल्प है। विकल्प का मुख्य साधन है मन। मन पर विजय पाई जा सकती है ज्ञानबल से। ज्ञानबल प्राप्त करने का उपाय

है भेदविज्ञान। भेदविज्ञान प्रकट होता है वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान होने पर। अतः शान्ति के अर्थ वस्तुस्वरूप के परिज्ञान का अभ्यास सर्वप्रथम चाहिए। यों वस्तुस्वरूप के परिज्ञान के अभ्यास से भेदविज्ञान प्रकट करें। भेदविज्ञान की भावना से ज्ञानबल प्रकट करो और ज्ञानबल से मन पर विजय पाकर शान्त हो लो।

21 जून 1965

निज ज्ञायकस्वरूप आत्मदेव का दर्शन करके आत्मबल बढ़ाओ। कातर होकर जीवन बिताया तो क्या किया? जैसी दुर्दशा में गत अनन्तकाल व्यतीत किया, वैसी दुर्दशायें भोगने का काम किया तो क्या किया? अज्ञानमय प्रक्रिया करके अन्धकार में ही लटुरते रहे तो नरजीवन पाने का लाभ क्या हुआ? दीन, कातर बनकर मूर्ख मत बनो। निज ज्ञायकस्वरूप आत्मदेव का दर्शन करके आत्मबल बढ़ाओ।

22 जून 1965

अपनी सुध लो। आकुल-व्याकुल होने के तो अनेक काम किये, उन्हीं को करते रहने में कुछ लाभ भी है क्या? क्यों जड़ बेहोश हो रहे हो? कौन है तुम्हारा साथी? कौन है तुम्हारा मित्र? भ्रमपूर्ण प्रवृत्ति से तो कष्ट ही कष्ट सहोगे। पर की दृष्टि से ही यह अनिष्ट सृष्टिजाल बनाया जा रहा है। यदि आनन्द चाहते हो तो पर का विकल्प छोड़ो और अपनी सुध लो।

23 जून 1965

निज का निज में विश्रान्त होना ही सार पुरुषार्थ है। बाह्यदृष्टि करके हुए विकल्पश्रम में आत्मा का संकट ही संकट है। वास्तविकता तो यह है कि बाह्य की ओर उपयोग का जाना ही आकुलता का रूपक है। उपयोग तो तुम्हारी ही शक्ति है, तुम्हारी ही परिणति है। इससे क्या हैरानी हो रही है, जो अपना उपयोग अपनी ओर नहीं कर पाते? प्रियतम ! अब अन्य श्रम मत करो, निज को निज में निहारो। निज का निज में विश्रान्त होना ही सार पुरुषार्थ है।

24 जून 1965

अपने आत्मा की शुद्ध दृष्टि से मत चिगो। जो बात बीतती है, जो उपसर्ग होता है, जो संकट आता है, जो विकार आता है, उस सबके ज्ञाता रहो। अज्ञानान्ध होकर, क्षुब्ध बनकर अपने सहज आनन्दस्वरूप को मत भूल जावो। अपनी भूल में सर्वत्र भटकना ही भटकना बना रहेगा। व्यावहारिक उचित काम से चिग जाने पर तो फिर भी सत्पथ पा लिया जाएगा, यदि आत्मा की शुद्ध दृष्टि बनी रही। यदि अपने आत्मा के स्वरूप की दृष्टि से चिग गए तो फिर सत्पथ पाना कठिन है। कुछ भी बीते, परन्तु अपने आत्मा की शुद्ध दृष्टि से मत चिगो।

25 जून 1965

निर्विकार होना ही शान्ति का एकमात्र उपाय है। विकार स्वयं अशान्तस्वरूप को लिए हुए ही प्रकट होते हैं। व्यावहारिक प्रक्रिया में विकार दो रूप में प्रकट होते हैं- [1] विषय के रूप में, [2] कषाय के रूप में। विषयसेवन और क्रोध, मान, माया, तृष्णा के वश होकर खेद में ही समय गुजारना पड़ता है। संसार का, विषय का क्षणमात्र का कल्पित मौज शान्ति का उपाय नहीं है। निर्विकल्प होना ही शान्ति का एकमात्र उपाय है।

26 जून 1965

निर्विकार परिणति होना ही अपनी परमार्थतः दया है। विकारभाव होना ही अपनी हिंसा है। विकार से आत्मा के ज्ञातृत्व का घात होता है। इस घात से मारा हुआ यह जीव दर-दर ठोकरें खाता है। स्वप्नसम इस दुनिया में यदि मायामय पुरुषों से कुछ मायामय यश पा लिया तो इससे क्या लाभ होता है और निन्दा की बात सुन लो तो इससे क्या बिगाड़ होता है? क्यों विचित्र परपरिणतियों को निरखकर अपने में आकुलता उत्पन्न करते हो? निर्विकार निज चैतन्यस्वभाव का आदर करो। निर्विकार परिणति होना ही अपनी परमार्थतः दया है।

27 जून 1965

वीतराग परिणति ही वास्तविक विभूति है। सकल परमात्मा की भक्ति में चक्री, नारायण, नर, नारियों आदि का समूह अपना सर्वस्व समझकर समवशरण में पहुँचता है। उसका क्या कारण है?

नर-नारी ही मात्र नहीं, देवेन्द्र, शची आदि देव-देवियों का वृन्द संगीत, गीत, नृत्य आदि साज-सामान सहित प्रभु के समवशरण में पहुँचता है। इसका क्या कारण है? और तो और हाथी, घोड़े, सिंह, हिरण, पक्षी, मेंढक, सांप, नेवला आदि प्राणियों का झुण्ड भगवान के समवशरण में पहुँचता है। इसका क्या कारण है? कारण बिल्कुल स्पष्ट है। प्रभु के परमवीतराग परिणति है, उसके ध्यान, प्रभाव आदि से आकर्षित होकर ये बड़े-छोटे सभी प्राणी प्रभुचरणों में पहुँचते हैं। तब यही तो बात रही कि वीतराग परिणति ही वास्तविक विभूति है।

28 जून 1965

आशा के परिहार में आनन्द ही आनन्द है। आशा करके आत्मा में ऋद्धि-सिद्धि-वृद्धि होना तो दूर रहा, उल्टा क्लेश और संक्लेश ही लाभ में रहता है। आशा का परिणाम औपाधिक और मायारूप है। यह आशा हो होकर, नई नई आशा का कारण बन-बनकर खुद मिटती जाती है और आत्मदेव को बरबाद कर डालती है। एक बार तो आशा का विकल्प तोड़कर नैराश्य परिणमन का स्वाद तो ले, फिर तू ही अनुभव कर लेगा कि आशा के परिहार में आनन्द ही आनन्द है।

29 जून 1965

संयम से शांति मिलती है। ज्ञान को ज्ञानस्वरूप में करना ही परमार्थतः संयम है। ज्ञान ज्ञानस्वरूप को ही जाने, इसमें अशांति का अवसर ही नहीं। शांति के इच्छुक पुरुष ! अन्य कुछ उपाय न खोजकर एक इस सुगमस्वरूप परिजन के उपाय में लगे। इस परमार्थ संयम से शांति मिलती है।

30 जून 1965

उठ, अपने शौर्य का प्रयोग कर। जो शौर्य परमात्मा में प्रकट है, वही शौर्य तो तुझमें है। अपने को भूलकर क्यों विषयों के प्रसंग में कायर होकर क्लेश सह रहा है? अपनी ओर झुककर थोड़ी भी अपनी झांकी कर ले तो इसी आत्मदर्शन के बल पर निकट काल में ही तू अपना परमार्थ शौर्य प्रकट कर लेगा। उठ, अपना शौर्य प्रकट कर।

1 जौलाई 1965

जैसी करनी तैसी भरनी। कोई प्राणी विषयव्यामोह के कारण रागद्वेष में जीवन व्यतीत करता है तो उसका परिणाम क्लेश ही है। कोई जीव देवभक्ति, गुरुसेवा, परोपकार आदि शुभभाव करके निष्कपट प्रसन्नता में जीवन व्यतीत करता है तो उसका परिणाम अन्तःसाता का अनुभवन है। कोई आत्मा शुद्ध ज्ञायकस्वरूप परमार्थ निज अन्तस्तत्त्व का आश्रय करके निर्दोष ज्ञानस्वभाव अनुभवन करता है, वह निराकुल सहज शुद्ध आनन्द को प्राप्त करता है। जैसी करनी तैसी भरनी।

2 जौलाई 1965

पापकार्य मत करो। चित्त की अस्थिरता व भीरुता का कारण पापकार्य है। शांति ही तो चाहते हो, जिसमें शांति मिले वही उद्यम करो ना। गुणियों के गुणस्मरण करने से पापभाव दूर हो जाते हैं। जब चित्त में विकार न रहेगा तो शांति अवश्य होगी। अपने को निर्विकार रखने का उद्यम करो, फिर बेचेनी ही नहीं रहेगी, पापकार्य करने का श्रम भी न करना होगा। सुगम, सहज, स्वाधीन पथ को त्यागकर कुपथ से जाने में कोई हित नहीं है, अहित और कुगति ही है। यदि शांति चाहते हो तो पापकार्य मत करो।

3 जौलाई 1965

ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्व का आश्रय करो। स्वभाव का आश्रय किए बिना ही तो आकुलताएँ हैं और इतना ही नहीं, दुर्निवार जन्म मरण की परम्परा में अनेक दुर्दशाओं को भोगते रहना पड़ेगा। हे आत्मन् ! कुछ विवेक तो करो। अपने को ज्ञानस्वरूप नानापर्यायों के रूप में अनुभव करने से तो अपना बिगाड़ ही है। यदि शाश्वत् शांति एवं आनन्द चाहते हो तो ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्व का आश्रय करो।

4 जौलाई 1965

सत् सुविधाओं का सदुपयोग कर। अनेकों बड़े-बड़े मनुष्य तो ज्ञान को तरसते हैं। गुरुप्रसाद से आत्मपुरुषार्थ से यदि ज्ञान पा लिया है तो जो ज्ञान पाया है, उसका आत्मकल्याण के लिए उपयोग कर। ऐहिक जीवन की बड़ी कठिनाई मानी जाती है आजीविका तो उदरपूर्ति का साधन भी समुचित

मिला, तब जीवन को पुण्यभाव व धर्मभाव में लगाकर सफल कर। अन्य-अन्य अनेक सत् सुविधायें भी तुझे मिली हैं। समस्त सत् सुविधाओं का सदुपयोग कर।

5 जौलाई 1965

निरन्तर ज्ञानदृष्टि की आवश्यकता है। अपने को अज्ञानमय अवस्थावोंरूप यह प्राणी मानता आ रहा है अनादि से। यों अनादि परम्परा से चले आए हुए कुरंग को मेटने के लिए यद्यपि अनन्तकाल या चिरकाल प्रयत्न करने की जरूरत तो नहीं है। यह विभावरंग अन्तर्मुहूर्तादि अल्पकाल के पुरुषार्थ से दूर हो सकता है, किन्तु जितने काल के पुरुषार्थ से भी यह काम हो सकता हो, उतने काल भी चाहिए निरन्तर दृढ़ता के साथ ज्ञानभावना। अपने विभावमल के क्लेश को मेटकर यदि शाश्वत् शांति चाहते हो तो यह बात याद रखो कि शुद्ध और शांति के लिए निरन्तर ज्ञानदृष्टि की आवश्यकता है।

6 जौलाई 1965

विरागता ही हितकारिणी माता है। राग का रूपक बनता है किसी पर के प्रति प्रीति करने से। पर की प्रीति में शल्य ही शल्य है, क्योंकि पर पर ही है, पर की परिणति अपने अधीन नहीं है। पर का संयोग भी कितने काल रहेगा? आखिर निकटकाल में ही वियोग हो जावेगा। जब तक पर का संयोग है, तब तक ही क्षोभ रहता है। पर को दृष्टि करके आत्मा शांत नहीं हो सकता है। पर की उपेक्षा करके एक निज अन्तस्तत्त्व में श्रद्धा करो, इसकी ओर झुककर ज्ञानस्वरूप आत्मा के अनुभव से परम विश्राम पावो। यही तो सच्ची विरागता है। इसी में परमहित है। विरागता ही हितकारिणी माता है।

7 जौलाई 1965

निष्कामता ही शांति का यथार्थ उपाय है। किसी भी परपदार्थ की इच्छा आकुलतास्वरूप को लिए हुए ही बनती है। इच्छा करना बिल्कुल असार है। जो इच्छा होती है, वही नहीं रहती जब, तब इष्ट की कहानी ही क्या? न इष्ट पदार्थ रहता है, न वह इच्छा रहती है, किन्तु अन्य-अन्य इच्छावों की संतति चलती रहती है, इससे जीव परेशान रहता है। कामना से शांति त्रिकाल भी संभव नहीं है। निष्कामता ही शांति का यथार्थ उपाय है।

8 जौलाई 1965

आत्मस्वास्थ्य के लिये ज्ञानाहार की नितांत आवश्यकता है। जैसे शरीर स्वास्थ्य के लिये रोज भोजनाहार की आवश्यकता है उससे भी अधिक आवश्यकता रोज-रोज ज्ञानाहार अर्थात् स्वाध्यायादि द्वारा ज्ञानदृष्टि करने की आवश्यकता है। किसी को भोजन मनमाना मिलता हो और ज्ञान सही दिशा का न हो, अज्ञान छाया हो तो उसे वास्तविक आराम तो होता ही नहीं। और किसी को भोजन प्राप्त करने की भी कठिनाई रहती हो, किन्तु ज्ञान सही दिशा का हो, स्वपर का यथार्थ बोध बना हो तो उसे वास्तविक आराम मिलता ही है। आत्मस्वास्थ्य के लिए ज्ञानाहार की नितान्त आवश्यकता है।

9 जौलाई 1965

प्रभुता के उपासक बनो। विषयकषाय की उपासना में अशांत ही रहोगे। विषयकषाय रागद्वेषमय भाव है। रागद्वेषमयी अनुभूति में अपने आपको प्रवर्ताना विषयकषाय की उपासना है। मैं चित्स्वभावमात्र हूँ- ऐसे परमार्थ अन्तस्तत्त्व की प्रतीति रखना प्रभुता की उपासना का उपाय है। अपने को सहज निज स्वभावमात्र अनुभूति में लो और प्रभुता के उपासक बनो।

10 जौलाई 1965

प्रेम ही परतन्त्रता है। जिस किसी भी पर के प्रति प्रेम उपजेगा उस ही पर को निकट बनाने की, समृद्ध बनाने की उत्सुकता जगेगी। यह सब परपरिणति तेरे अधीन है नहीं, सो ऐसा न होने पर तू खेद-खिन्न रहेगा। पर के प्रति आकर्षण का भाव होने से उपयोग स्थानभ्रष्ट रहेगा। स्थानभ्रष्टता में स्वाश्रय न रहने से परतन्त्रता ही रहती है। यह सब प्रेम का ही परिणाम है। प्रेम ही परतन्त्रता है।

11 जौलाई 1965

निज को निज पर को पर जाना। आत्मा को आत्मा के सहज चैतन्यरूप में जान लिया होता तो क्लेश, संक्लेश क्यों उठाने पड़ते? निज के अपरिचय का ही तो यह परिणाम है कि नाना विचित्र आकारों व विभावों में बसकर आकुलित होना पड़ रहा है। परवस्तु पररूप से जान ली जावे तो

निज को निज जानने में बहुत ही सुगमता है। देख ! यदि अपने संकट समाप्त करने हैं तो निज को निज पर, को पर जान।

12 जौलाई 1965

अपने उपयोग को अपने सहजस्वरूप के श्रद्धानरूप से बनाये रहो। जैसे नाव किस दिशा में चली जाए, यह बात कर्णधार के कर्ण पर निर्भर है, इसी प्रकार तेरा भविष्य कैसा बने, यह बात अपनी श्रद्धा पर निर्भर है। यदि अपने उपयोग को अधिष्ठित शरीररूप ही अपने को मानने के श्रद्धापनरूप से प्रवर्ताया तो इसका परिणाम जन्म-मरण, क्लेश-संकलेशादि संकट है। यदि अपने उपयोग को अपने सहजस्वरूप के श्रद्धानरूप से बनाया तो इसका परिणाम निःसंकट, अप्रतिघात, सहज, अनन्त आनन्द का अनुभव है। हे प्रियतम ! अपने उपयोग को अपने सहजस्वरूप के श्रद्धानरूप से बनाये रहो।

13 जौलाई 1965

कितना सस्ता नुस्खा है? संसार में स्थावर, कीट, पतंग, पशु, पक्षी, नर, नारक, सुर, असुर आदि विचित्र-विचित्र शरीरों को धारण करकरके अपना इन्द्रजाल फैलाना- यह भी एक बड़ा काम है और द्रव्यकर्म, भावकर्म, शरीर आदि समस्त पर के सम्पर्क से मुक्त होकर केवल शुद्ध रहकर समस्त लोकालोक व समस्त काल के सब पदार्थों को एक साथ स्पष्ट जानना और पूर्ण निराकुल रहना- वह भी एक बड़ा काम है। इन दोनों ही बड़े कामों का मूल में उपायभूत नुस्खा बहुत ही सस्ता है। देह को व जो अन्तरंग में परिणति गुजर रही है, उसको यह मैं हूँ- ऐसा मानना यह तो संसार में रुलने का नुस्खा है और देह को व रागादि परिणामों को परतत्त्व मानकर उनकी उपेक्षा करके सहज चैतन्यस्वरूप अपने को मानना- यह सकलसंकटों से मुक्त होने का नुस्खा है। अब इन दोनों में तुम्हें जो भला जंचता हो, उस नुस्खे का प्रयोग कर लो। बोलो, कितना सस्ता नुस्खा है।

14 जौलाई 1965

परसम्पर्क अहित का ही कारण है। पर की ओर दृष्टि होने से आत्मा में क्षोभक विवर्त उठा करते हैं। इन विवर्तों में, परिणमनों में, तरंगों में क्षोभ अर्थात् आकुलताभाव बसा हुआ है। असम्पृक्त

परिपूर्ण सहज चित्स्वभाव में स्थिर स्थित होना ही हित है। इस निज अन्तस्तत्त्व की दृष्टि में शांति अर्थात् निराकुलता बसी हुई है। परसम्पर्क में रहते-रहते अब तक चले आये, लाभ तो कुछ नहीं हुआ, बरबादी ही सारी हुई। मानो, चाहे न मानो, तुम्हारी मर्जी, लेकिन यह बात पूर्ण निश्चित है कि अहित का ही कारण है।

15 जौलाई 1965

दुर्भावों का अवसर टालो। जीव के साथ बद्ध कर्मों का उदय होता है। जिस प्रकार के विपाक वाले कर्म का उदय है, यदि कदाचित् उसका साधनभूत नोकर्म न मिले तो वह संक्रांत हो जाता है। अतः बेपते की स्थिति में भी विषय के साधन, कषाय के साधन को टालने का यत्न करते रहो। विधिवत् साधन के हटाने का नाम ही तो चरणानुयोग है। सद्भाव की ओर दिल जाये, इसके लिए धीर, वीर, ज्ञानी पुरुषों का चरित्र विचारने लगे- ऐसे ही यत्न को बनाने में सहायक प्रथमानुयोग है। ज्ञानदृष्टि करके उन सब मौकों को टालते रहो, जो मौके पाप, विषय व कषाय में लगा सकते हो। देखो अपना पक्का निर्णय रखो। दुर्भावों का अवसर टालो।

16 जौलाई 1965

निज प्रतिभास ही जिनकी आनन्दमयी सम्पदा है। जगत् के अन्य किन्हीं भी पदार्थों की कुछ भी आशा करो तो वह सब अरण्यरोदन है। निज शुद्ध स्वरूप के निर्विकल्प अवलम्बन से कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है और वहाँ क्षुधा, तृषा, रोग, शोक, भय, राग, द्वेष, मरण आदि कुछ भी नहीं होते। जब तुम्हें ऐसी शुद्ध स्थिति मिल जावेगी- ऐसा धर्म का प्रताप है तो फिर अन्य पदार्थों की ओर रति ही क्यों करते हो। हे प्रियतम ! सर्व संकल्पविकल्पजाल दूर करो और निजप्रतिभास में मग्न होकर सहज आनन्द पावो। निजप्रतिभास ही निज की आनन्दमयी सम्पदा है।

17 जौलाई 1965

आनन्द का धाम तो यह मैं स्वयं ही हूँ। अपने को भूलकर चारों ओर भीख मांगती सी दृष्टि बनाकर, आकुलित होकर व्यर्थ भटक रहा हूँ। बाहर से दृष्टि मोड़कर विराम लूं व अपनी ओर झुककर देखूँ तो मेरा सारा राज मुझे विदित हो जाएगा। मेरा आनन्द मुझसे बाहर नहीं है। अन्य

आनन्द खोजना अपने आनन्द का घात करना है। धीरता धर, ज्ञानप्रकाश में आ। देख अपने आपमें कि आनन्द का धाम तो मैं स्वयं ही हूँ।

18 जौलाई 1965

आशय पवित्र बना। देख- सारी प्रवृत्तियाँ आशय के अनुसार होती हैं। प्रवृत्तियाँ ही प्रकट विपन्नता और सम्पन्नता का कारण बन जाया करती हैं। विषयसाधना का आशय होता है तो प्रवृत्तियाँ भी अटपट, दुःखकर, शल्यप्रद बन जाती हैं। फिर फँसाव में फँसाव बढ़ता ही चला जाता है। आत्महित करने का आशय होता है तो प्रवृत्तियाँ भी सुगम, सुखकर, शांतिप्रद बन जाती हैं। फिर इसकी परम्परा में उत्तरोत्तर आनन्दरस वृद्धिगत होता ही जाता है। देख- होनहार की निर्भरता आशय पर है। आशय पवित्र बना।

19 जौलाई 1965

आत्महित का अवसर मत गँवा दो। श्रावककुल, सद्बुद्धि, अर्जितज्ञान, जैनशासन के मर्म में परिच्छेदन की कुशलता, आत्मस्वरूप को झांकी में लेने की क्षमता, उचित समागम आदि सब कुछ योग्य साधन प्राप्त हैं। इस सबका सदुपयोग करो, इनका प्रयोग निज के शाश्वत् उपकार में करो। जरा जीवों के भववैचित्र्य पर दृष्टिपात तो करो और समझ लो कि अपने को कितना उत्तम अवसर मिला है। देखो- शुद्ध निज अन्तस्तत्त्व की रुचि करके इसमें ही उपयोग लगाकर अपने को स्वच्छ और आनन्दमय बना लो। आत्महित का अवसर मत गँवा दो।

20 जौलाई 1965

आपका आप ही शरण है। चेतन अथवा अचेतन अन्य कोई पदार्थ इस मुझमें क्या कर सकता है? वस्तु का स्वरूपकिला तो अभेद्य है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें ही है, इस कारण प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है। अपने आपके परिणामने में ही प्रत्येक पदार्थ प्रभु है, तब जैसा हम करेंगे, वैसा हम पावेंगे। इस योग को कोई मेट नहीं सकता। अथवा ज्ञानबल से पापों का संक्रमण भी कर सकता हूँ, किन्तु अभी से ऐसा प्रमाद क्यों करते हो कि पहिले तो महापापकर्म का बन्ध करें और फिर उन्हें

नष्ट करने का बड़ा उद्योग करें? देखो- अपने आपको सावधान बनाए रहो। आपका आप ही शरण है।

21 जौलाई 1965

अपनी दया करो। देखना तुम राग के जाल में फँस रहे हो, द्वेष की ज्वाला में जल रहे हो, प्रतिक्षण विकल्पों की चक्की में पीसे जा रहे हो। कहाँ तो तेरा अनन्तज्ञान का स्वभाव और कहाँ यह अज्ञानता आदि का क्लेश? कहाँ तो तेरा अनन्त शुद्ध सहजआनन्द का स्वभाव और कहाँ यह पर की भीख चाह चाहकर पैदा की गई व्याकुलता का खेद? ऐसे दुःखी कब तक बने रहोगे? कुछ तो अपने पर रहम करो। अपने शुद्धस्वरूप की रुचि से अपने उद्धार का प्रारम्भ होता है। सहज ज्ञानस्वरूप का परिचय करके, मोहजाल का विलय करके अपनी दया करो।

22 जौलाई 1965

आजीवन ज्ञानार्जन करते रहो। ज्ञानस्वरूप आत्मा का ज्ञान बनाए रहने का कार्य इस आत्मा को सदा के लिए बना हुआ है। इस अवस्था में किसी तत्त्व का ज्ञान होने पर भी उसे बनाए रहने लिए भी ज्ञानार्जन करते रहने का काम आवश्यक है। आत्मा का आनन्द ज्ञानस्वभाव के आश्रय में है। ज्ञानस्वभाव के जानन की स्थिति में आकुलता को कहीं अवसर ही नहीं मिलता। कल्याण का एकमात्र साधन है ज्ञान। सुयोगवश अनुभवी वीतराग सन्तों की वाणी महान् महान् ग्रन्थों के रूप में तुम्हें प्राप्त है। इस सुयोग का लाभ उठाओ। आजीवन ज्ञानार्जन करते रहो।

23 जौलाई 1965

सब जीवों में उनका महत्त्व देखो। प्रत्येक जीव स्वभावतः मनस्वी है। यदि कोई आज निम्न दशा में है तो वह निम्न नहीं है, उसकी औपाधिक अवस्था निम्न हो गई है, सो अवस्था भी कुछ काल के बाद प्रलीन हो जाएगी। नश्वर को देखकर महान् व तुच्छ का निर्णय न करना। शाश्वत्स्वरूप को निरखकर विशुद्ध उपयोगी बनना है। एतदर्थ यह भी आवश्यक है कि सब जीवों में उनका महत्त्व देखो।

24 जौलाई 1965

आत्मसाधना के उपाय में प्रमाद मत करो। आत्मसाधना में अपने को साधना है और प्रभु की तरह साधना है। अतः इस प्रसंग में प्रभु और निजदृष्टि से सम्बन्ध रहता है। इस साधना का एक उपाय सामायिक है। सामायिक में इतने प्रयत्न करने चाहियें-

[1] णमोकारमन्त्र की जाप इस पद्धति से देना कि जब जिस परमेष्ठी का नाम बोला जाए, तब उस परमेष्ठी का स्मरण होता रहे।

[2] बारहभावना व एक कोईसी प्रभुस्तुति।

[3] आत्मस्वरूप का चिन्तन।

[4] प्रभु की उत्कृष्टता व अपनी निष्कृष्टता निरखकर अपनी स्थिति पर खेद, प्राश्चियत्, विषाद करते हुए और प्रभुभक्ति में बढ़ते हुए प्रभु को आत्मसमर्पण का भाव करना।

[5] सबका ध्यान छोड़कर सहज विश्राम।

आत्मसाधना के लिए प्रतिदिन सामायिक करना आवश्यक कर्तव्य है। इसलिये आप सब आत्मसाधना के उपाय में प्रमाद मत करो।

25 जौलाई 1965

लोग मुझे अच्छा कहें- ऐसी चाह करना बड़ी मूर्खता है। जरा यह अपनी बात मुँह से कहकर तो देखो। कोई पूछे कि आप उदास क्यों बैठे हो? उसको दिल की यह सच्ची बात बता तो दो, कह तो दो कि मुझे बड़ा दुःख है, मैं परेशान हो रहा हूँ, मेरी दिली ख्वाहिश है कि लोग मुझे बड़ा मान लें, अच्छा कह लें, लोग मुझे बड़ा नहीं कह रहे हैं, इसका मुझे बड़ा अफसोस है। जरा कहो तो यह बात। नहीं कह सकते ना, क्यों नहीं कह सकते? ऐसा कहने में शर्म आती है। अच्छा तो देखो कि जिस बात के कहने में शर्म आती है, वह बात कितनी गन्दी है? तो अब समझ जावो कि लोग मुझे अच्छा कहें, यह चाह करना बहुत गन्दी बात है। लोग कह भी नहीं सकते बड़ा। उनके बड़ा कहने से कोई भी बड़ा नहीं हो जाता, कुछ भला नहीं हो जाता। अब समझ लो- लोग मुझे अच्छा कहें- ऐसी चाह करना बड़ी मूर्खता है।

26 जौलाई 1965

संयुक्त वस्तु का वियोग होगा ही, अतः उसमें राग न करो। इष्ट के वियोग में जो दुःख हुआ करता है, वह दो गलतियों के करने की परिस्थिति है- एक तो यह कि उस वस्तु को अज्ञान से इष्ट मान डाला, दूसरी गलती यह है कि तुमने इस वस्तुस्वरूप का ध्यान भी नहीं किया कि संयुक्त इस वस्तु का वियोग तो नियम से होगा ही, उल्टे ऐसा संस्कार रखे रहा कि यह तो मेरी ही चीज है, मेरे ही साथ सदा रहेगी। इन दो गलतियों के कारण वियोग के समय अति दुःखी होना पड़ता है। संयुक्त वस्तु का वियोग होगा ही, अतः उसमें राग मत करो।